दिशा दूसरी रही और पुराण की दूसरी। प्राचीन भारतीय-वाङ्मय का इस प्रकार दो विधाओं में स्वतः ही विभक्त हो उठना अस्वाभाविक भी नहीं जान पड़ता। आज के ज्ञानभण्डार और साहित्य को विषयवस्तु की दृष्टि से जिस प्रकार हमने सैकड़ों विभागों में समादृत किया है, उसी प्रकार उस प्राचीनतम विगत में भारतीय वाङ्मय भी दो भागों में विभक्त हो गया होगा। इस विषय में सन्देह करने का कोई अवसर नहीं दिखायी देता।

इस प्रकार वेद और पुराण एक ही यज्ञमय परब्रह्म से उद्भूत होकर भी चिरन्तन काल से दोनों का पृथक् विधाओं के रूप में अस्तित्व रहा है। वेदों ने अपने अनादिस्वरूप को यथावत् अक्षुण्ण रखा; किन्तु शत-कोटिप्रविस्तर पुराण, जिसने कालान्तर में चतुर्लक्षात्मकरूप ग्रहण कर लिया था, अष्टादश ग्रन्थ के रूप में बिखर गया[1]। ऐसा कहा जाता है कि महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदों का संकलन तथा विभाजन करने के कारण वेदव्यास कहे जाते हैं। उन्होंने ही शतकोटिप्रविस्तर पुराण को अठारह भागों में विभाजित कर अठारह पुराणों का कलेवर प्रदान किया।

पुराणों की संख्या

भारतीय परम्परा एवं पुराणों में प्राप्त विवरण के अनुसार पुराणों की संख्या अठारह है। विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवतपुराण में निम्नलिखित अठारह पुराणों की चर्चा हुई है—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यं नारदीयं च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्॥

१. (क) पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
(स्कन्दपुराण, रेवामाहात्म्य–१।२३।२३)

(ख) कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे-द्वापरे तदा…
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम्॥
(पद्मपुराण–सृष्टिखण्ड, १–५१-५२। देवीभागवत–१।३।१९-२१)

आग्नेयं अष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा ।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कन्दञ्च त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनं च कौर्मं पञ्चदशं तथा ।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम[1] ॥

(विष्णुपुराण–३।६ २१-२४, श्रीमद्भागवतपुराण–१२।७।२३-२४)

नारदादि पुराणों में भी अष्टादश पुराणों का निर्देश है; किन्तु उनके नाम व क्रम निर्देशन में अन्तर है। देवीभागवत में उनका क्रम व नाम सबसे पृथक् निर्दिष्ट है[2]। इनमें प्रायः सभी ब्रह्मपुराण को प्रथम और ब्रह्माण्डपुराण को अन्तिम मानते हैं। मत्स्य, अग्नि, स्कन्द, नारद और देवीभागवत में शिवपुराण के स्थान पर वायुपुराण का उल्लेख है; किन्तु विष्णु तथा श्रीमद्भागवतपुराण में वायुपुराण के स्थान पर शिवपुराण का निर्देश है। कूर्मपुराण में अष्टादश महापुराणों की सूची में शिवपुराण और वायुपुराण दोनों का निर्देश है; किन्तु कूर्मपुराण की इस सूची में अग्निपुराण का निर्देश नहीं है, जो सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; क्योंकि कूर्मपुराण के अतिरिक्त सभी पुराणों में अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत अग्नि पुराण का उल्लेख है। देवीभागवत में शिवपुराण को उपपुराणों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है[3]। इस प्रकार दोनों पुराणों की समीक्षा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः वायुपुराण को ही महापुराणों की सूची में परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि वायुपुराण में पुराण पञ्चलक्षण की सत्ता पूर्णतः विद्यमान है। दूसरे शिवपुराण वायुपुराण की अपेक्षा अर्वाचीन है।

भागवत नाम के दो पुराण मिलते हैं–श्रीमद्भागवत और देवीभागवत। दोनों महापुराणों में बारह स्कन्ध और अठारह हजार श्लोक हैं।

---

१. विष्णुपुराण–३।६।२१-२४, श्रीमद्भागवतपुराण–१२।७ २३-२४।

२. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापल्लिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥
(देवीभागवत–१।३।२)

३. देवीभागवत–१।३।१४।

अतः किसे अठारह महापुराणों की सूची में रखा जाय? वह प्रश्न विचारणीय है। किन्तु महापुराण के जो लक्षण बताते गये हैं, उनके अनुसार श्रीमद्भागवत को ही महापुराणों की सूची में परिगणित किया जा सकता है।

इसी प्रकार अग्निपुराण और वह्निपुराण नामक दो पुराण मिलते हैं, किन्तु इनमें अग्निपुराण ही महापुराण है और वह्निपुराण को उपपुराणों में परिगणित किया गया है।

इन अठारह महापुराणों के अतिरिक्त उपपुराणों की संख्या भी अठारह बतायी गयी है[1]। ये अठारह उपपुराण महापुराणों के आधार पर ही संकलित हुए हैं। इनमें कहीं पर कथाओं का सूक्ष्मीकरण हुआ है; कहीं पर नवीनता उत्पादन के लिए कथाओं में कुछ परिवर्त्तन या विस्तार कर दिया गया है और कहीं-कहीं रोचकता लाने के लिए अद्भुत कथाओं का समावेश भी कर दिया गया है। श्रीधरस्वामी ने देवीभागवत की टीका में लिखा है कि ये उपपुराण महापुराणों से निःसृत हैं। मत्स्यपुराण में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

पुराणों के प्रवक्ता एवं रचयिता

भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। इस बात की पुष्टि मत्स्यपुराण के इस कथन से होती है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने पुराणशास्त्र का स्मरण किया। तदनन्तर उनके मुख से वेद

---

१. आद्यं सनत्कुमारोक्तं नरसिंहमथापरम्।
तृतीयं स्कन्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम्॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमथापरम्॥
कपिलं वामनञ्चैव तथैवोशनसेरितम्।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम्।
पाराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्॥
(कूर्मपुराण—१।१।१७-२०)

प्रकट हुए[१]। यह शास्त्र प्रथम देवलोक में प्रतिष्ठित था। कालान्तर में ऋषियों एवं मुनियों में प्रस्फुरित होता हुआ मानव-समाज में प्रचारित हुआ। मार्कण्डेयपुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि सर्वप्रथम वेदों के साथ-साथ पुराण भी ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए। तदनन्तर ऋषियों ने उनके विभाग किये। उनमें सप्तर्षियों ने वेदों को ग्रहण किया और भृगु आदि ऋषियों ने पुराणशास्त्र को। तदनन्तर भृगु से च्यवन ऋषि ने पुराणों का अध्ययन कर अन्य ऋषियों में उसका प्रचार किया[२]। इस प्रकार पुराणशास्त्र के प्रचार, प्रसार एवं विस्तार में अनेक ऋषियों एवं मुनियों का योगदान रहा।

भारतीय-परम्परा महर्षि वेदव्यास को ही वेदों के संग्राहक, अष्टादश पुराणों के सम्पादक एवं महाभारत का लेखक मानती रही है, जो कुरु-पाण्डवीय युद्ध के समकालीन थे। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्वापर के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ में एक व्यास उत्पन्न होते हैं, जो लोककल्याण हेतु वेदों एवं पुराणों का विभाजन एवं सम्पादन करते हैं[३]। वेदों का विभाजन करने के कारण ही वे वेद-व्यास कहे जाते हैं। देवीभागवत के अनुसार महर्षि व्यास ने अष्टादश पुराणों की रचना करने के पश्चात् भारत नामक आख्यान का प्रणयन किया[४]। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास ही वेदों के सङ्कलन-कर्त्ता, पुराणशास्त्र के सम्पादक एवं महाभारत के लेखक रहे हैं। उन्होंने वेद को चार भागों में विभाजित कर अपने चार शिष्य पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को उसके प्रचार एवं प्रसार का कार्य सौंपा और

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
(ब्रह्मपुराण—२।६०, मत्स्यपुराण—५३।३)

२. मार्कण्डेयपुराण ४५।२०, २३, २५।

३. विष्णुपुराण-३।३।३, देवीभागवत-१।३।१९-२०, मत्स्यपुराण-५३।९-११; स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड-३।२७-२९; पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड-१।५१-५२,

४. अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारतमाख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्॥
(देवीभागवत—१।३।१७)

पुराणशास्त्र का सम्पादन कर अपने शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया और उसके प्रचार का कार्य भी उन्हीं को सौंपा।

जैसा कि कहा जा चुका है कि महर्षि व्यास ने पुराणसंहिता का प्रणयन कर अपने शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया और उन्हीं को उसके प्रचार एवं प्रसार का कार्य सौंपा। तदनन्तर लोमहर्षण ने व्यास के आधार पर अपनी अलग पुराणसंहिता तैयार की और उसे सुमति, आत्रेय, अकृतव्रण काश्यप, अग्निवर्चा भारद्वाज, सोमदत्ति सार्वणि, सुशर्मा, शांशपायन और मित्रायु वाशिष्ठ इन छः शिष्यों को पढ़ाया[1]। इनमें से काश्यप, सार्वणि और शांशपायन इन तीनों ने अपनी-अपनी अलग नयी पुराणसंहिताएँ बनायीं। इनके अतिरिक्त लोमहर्षण ने व्यासप्रणीत पुराण को अपने पुत्र उग्रश्रवा को पढ़ाया। इस प्रकार कुल चार संहिताएँ निष्पन्न हुईं। इन चारों में चार-चार पाद थे—प्रक्रियापाद, उपोद्घातपाद, अनुषंगपाद और उपसंहारपाद। ये सभी एक ही अर्थ को कहने वाली थीं और भोजराज के समय तक विद्यमान रही हैं।

इस प्रकार पुराणों के प्रचार-प्रसार का कार्य सूत लोग करते थे। यहां पर सूत शब्द सूत जाति का बोधक नहीं है, जो वर्णसंकर जाति थी। ये पौराणिक सूत अलग थे[2] जो ब्राह्मण थे[3] और कथावाचन का कार्य करते थे। इन्हीं के द्वारा पुराणों का प्रचार हुआ। आज-कल जो पुराण उपलब्ध होते हैं, वे लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा द्वारा सम्पादित एवं संशोधित हैं।

---

१. सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुः शांशपायनः।
अकृतवर्णसावर्णा षट्शिष्यास्तस्य चाभवन् ॥
(विष्णुपुराण—३।६।१७)

वायुपुराण (६१।५५-५६) में भी ये छः नाम मिलते हैं; किन्तु भागवतपुराण में जो नाम परिगणित हैं, उनमें कुछ भिन्नता है।

२. पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च ब्राह्मणात् क्षत्राद्विशेषः[३]।
(कौटलीय-अर्थशास्त्र—३।७।२९-३१)

३. सूतस्तु पौराणिको द्विजः।

मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण का पुराण-वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है। क्रम में यह सोलहवाँ पुराण है; किन्तु देवीभागवत के अनुसार यह प्रथम पुराण है। वामनपुराण के अनुसार भी मत्स्यपुराण पुराणों में मुख्य है। इस पुराण का प्रारम्भ मत्स्यरूपधारी विष्णु तथा मनु के संवाद से प्रारम्भ होता है। भगवान् विष्णु ने मत्स्य का रूप धारण कर प्रलय के समय नौकारूढ़ मनु की रक्षा की थी। मत्स्यपुराण में वेदवेत्ता भगवान् वेदव्यास ने नरसिंह वर्णन से आरम्भ करके सात कल्पों का वृत्तान्त संक्षेप में वर्णन किया है। इसमें कुल चौदह हजार श्लोक हैं[1]। मत्स्यपुराण में स्वयं लिखा है कि भगवान् विष्णु ने मत्स्यरूप धारणकर नरसिंह-वर्णन-प्रसङ्ग में सात कल्पों का वर्णन किया है। इसमें चौदह हजार श्लोक हैं[2]। श्रीमद्-भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणों के अनुसार भी इस पुराण में चौदह हजार श्लोक हैं। इसमें कुल २९१ अध्याय हैं। आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित मत्स्यपुराण में २९१ अध्याय तथा १४००० श्लोक हैं।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके ५३वें अध्याय में समस्त पुराणों की जो विषयानुक्रमणी दी है, उससे सभी पुराणों के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। १९५–२०२ अध्याओं में भृगु, अङ्गिरा आदि ऋषियों के वंश का सुचारु वर्णन है। राजधर्म का विशिष्ट वर्णन इस पुराण को राजनैतिक महत्त्व प्रतिपादित करता है। भारतीय प्रतिमाशास्त्र का जैसा वैज्ञानिक वर्णन इस पुराण में उपलब्ध होता है, वैसा

---

१. अथ मात्स्यं पुराणं ते प्रवक्ष्ये द्विजसत्तम।
यत्रोक्तं सप्तकल्पानां वृत्तं संक्षिप्य भूतले।
व्यासेन वेदविदुषा नरसिंहोपवर्णनम्।
उपक्रम्य तदुद्दिष्टं चतुर्दशसहस्रकम्॥
(नारदीयपुराण–१०७।१-८)

२. श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्यर्थं जनार्दनः।
मत्स्यरूपेण मनवे नरसिंहस्य वर्णनम्।
अधिकृत्याब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः।
तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय–५३।४९-५०)

अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। इसमें नर्मदा नदी का विशिष्ट महत्त्व वर्णित है।

मत्स्यपुराण भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार से सम्बद्ध है। अतः इसे वैष्णवपुराण की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु विद्वानों ने इसे शैव-पुराण के अन्तर्गत परिगणित किया है। क्योंकि इस पुराण में वैष्णवों के धार्मिक उत्सवों एवं आख्यानों के साथ-साथ शैव उत्सवों एवं आख्यानों की भी चर्चा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों सम्प्रदायों ने इसे अपने-अपने धर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है।

मत्स्यपुराण का नामकरण

भगवान् विष्णु ने मत्स्य का अवतार लेकर प्रलय के समय मनु को नौका में बैठाकर उनकी रक्षा की थी और मनु के साथ उनका संवाद हुआ था। इसी मत्स्यरूपधारी विष्णु तथा मनु के संवाद होने के कारण इस पुराण का नाम 'मत्स्यपुराण' है। नीलकण्ठ का कथन है कि कहीं वक्ता के नाम पर, कहीं श्रोता के नाम पर और कहीं प्रतिपाद्य मुख्य देवता के चरित के आधार पर पुराणों का नाम रखा जाता है[1]। अतः इस पुराण में मत्स्यावतार की कथा मनु एवं मत्स्य का संवाद प्रमुखरूप से वर्णित है। अतः इस पुराण का 'मत्स्यपुराण' नामकरण हुआ। मत्स्यावतार की यह कथा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों, ब्राह्मणों में इस कथा का वर्णन आया है। इस पुराण में विष्णु के मत्स्यावतार की कथा वर्णित है जो सृष्टिप्रक्रिया से विशेषरूप से सम्बन्धित है। अतः इसका 'मत्स्यपुराण' नाम युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मत्स्यपुराण के प्रवक्ता

परम्परा के अनुसार सभी पुराणों के प्रवक्ता महर्षि वेदव्यास माने जाते हैं। उस परम्परा के अनुसार मत्स्यपुराण के प्रवक्ता महर्षि वेदव्यास

---

१. पुराणनामकरणे विविधा हेतवः। यथोक्तं नीलकण्ठेन—अत्र क्वचित् वक्तृ-सम्बन्धः, क्वचिच्छ्रोतृसम्बन्धः क्वचित् प्रतिपाद्यमुख्यदेवताचरितसम्बन्धः प्रवृत्तिनिमित्तमिति स्पष्टमेव दर्शितम्।

(देवीभागवतटीकोपोद्घात–पृ० २)

हैं। उन्होंने इसमें सात कल्पों के वृत्तान्त को संक्षेप में निबद्ध किया है[१]। एक दूसरी परम्परा के अनुसार भगवान् विष्णु ने मत्स्य का अवतार लेकर मनु से इस पुराण का प्रवचन किया था[२]। जैसा कि मत्स्यपुराण में स्वयं कहा गया है कि यह पुराण अत्यन्त पवित्र है, जिसे मत्स्य (विष्णु) ने भाषित किया है[३]। इस प्रकार मत्स्यपुराण के प्रवक्ता मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णु हैं; किन्तु परम्परया महर्षि व्यास इसके प्रवक्ता कहे जाते हैं। इसमें सातों कल्पों का वृत्तान्त वर्णित है।

मत्स्यपुराण का देश-काल

मत्स्यपुराण नर्मदा क्षेत्र को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करता है। मत्स्यपुराण का कथन है कि प्रलय में समस्त वस्तुओं का नाश हो जाने पर भी नर्मदा नदी लुप्त नहीं हुई। इस पुराण में नर्मदा का महत्त्व नौ अध्यायों में वर्णित है[४]। एक पूरे अध्याय में नर्मदा और कावेरी के सङ्गम का सुन्दर वर्णन किया गया है[५]। यह संगम गंगा-यमुना के संगम के समान अत्यन्त पवित्र एवं सद्यः फलदायक बताया गया है[६]। यह पुराण नर्मदा के तटवर्त्ती प्रदेशों से पूर्ण परिचित है। भड़ोच के एक पवित्र घाट दशाश्वमेध तथा भारभूति तीर्थ का उल्लेख इस पुराण में मिलता है[७]। इन वर्णनों से पुराणकार का नर्मदा-प्रदेश के प्रति विशेष आग्रह दिखाई देता है। इससे प्रतीत होता है कि इस पुराण की रचना नर्मदा के पुण्य क्षेत्र में हुई होगी।

पार्जिटर महोदय का मत है कि इस पुराण का रचना-स्थल आन्ध्र-प्रदेश रहा होगा; क्योंकि इसमें कलिवंश का वर्णन आन्ध्रनरेश राज्यकाल में जोड़ा गया है; किन्तु मत्स्यपुराण की अन्तरंग परीक्षा से पार्जिटर के

---

१. नारदपुराण—१०७।१-२। २. मत्स्यपुराण—५३। ३. वही, २८९।२६।
४. मत्स्यपुराण, अध्याय १८६—१९५। ५. वही अध्याय १८८।
६. गङ्गायमुनयोर्मध्ये यत्फलं प्राप्नुयान्नरः।
कावेरीसङ्गमे स्नात्वा तत्फलं तस्य जायते॥
(मत्स्यपुराण—१८८।१९)
७. मत्स्यपुराण—१९२।३१; १९३।१८।

उक्त मत की सम्पुष्टि नहीं होती । अतः मत्स्यपुराण का रचना-स्थल आन्ध्रप्रदेश न होकर नर्मदा प्रदेश को स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

मत्स्यपुराण का रचनाकाल

मत्स्यपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है । डा० हाजरा इस पुराण का समय तृतीय शताब्दी का अन्तिम भाग एवं चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भिक काल मानते हैं । श्री पार्जिटर महोदय मत्स्यपुराण का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी का अन्तिम भाग मानते हैं । डा० काणे के मतानुसार मत्स्यपुराण का समय छठी शताब्दी के बाद का नहीं माना जा सकता । डा० पारसनाथ द्विवेदी पुराणों का रचनाकाल गुप्तकाल (तृतीय-चतुर्थ शताब्दी) मानते हैं । अल्बेरुनी, जो ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आया था, उसने पुराणों की सूची प्रस्तुत की है । अल्बेरूनी का कहना है कि मत्स्यपुराण को उसने स्वयं देखा है । इससे प्रतीत होता है कि उस समय मत्स्यपुराण अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका था । बल्लालसेन लिङ्गपुराण को मत्स्यपुराण का अधमर्ण मानता है । अतः उनके मत से मत्स्यपुराण का महत्त्व उस समय तक पर्याप्तरूप में विख्यात हो चुका था ।

मत्स्यपुराण में स्मृति-कालीन पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है । इसमें मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक श्लोक मिलते हैं । इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराण के बहुत से उद्धरणों को निबन्धकारों ने अपने निबन्ध-ग्रन्थों में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है । इससे प्रतीत होता है कि निबन्ध ग्रन्थों की रचना के पूर्व मत्स्यपुराण एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ के रूप में मान्यता को प्राप्त कर चुका था । इस आधार पर मत्स्यपुराण का रचनाकाल इससे बहुत पहले का होना चाहिए ।

मत्स्यपुराण के उर्वशी-उपाख्यान तथा कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में बहुत कुछ साम्य है । किन्तु इसमें कौन ग्रन्थ किस ग्रन्थ का ऋणी है ? यह निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । यदि परम्परानुसार यह मान लिया जाय कि कालिदास गुप्तकाल में हुए और मत्स्यपुराण का अन्तिम संस्करण भी गुप्तकाल में ही हुआ है, तो निश्चय ही

कालिदास मत्स्यपुराण के ऋणी हैं। इस आधार पर मत्स्यपुराण का रचनाकाल तृतीय शताब्दी मानना उचित होगा और कालिदास का समय चतुर्थ शताब्दी; क्योंकि तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ही गुप्तों का राज्यकाल माना जाता है।

मत्स्यपुराण में जो धार्मिक सामग्री, मन्दिरों का वर्णन, तीर्थों की स्थिति, व्रत-दानादि का वर्णन, सामाजिक दशा का वर्णन प्राप्त होता है, उससे प्रतीत होता है कि इस पुराण का अन्तिम संस्करण गुप्तकाल में हुआ होगा; क्योंकि गुप्तकाल में वैष्णवधर्म का उद्धार हुआ है और उसी समय में पुराणों का भी उद्धार हुआ है। अतः इस आधार पर भी मत्स्यपुराण का रचनाकाल तृतीय-चतुर्थ शताब्दी मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मत्स्यपुराण में आन्ध्र, गर्दभिल्ल, शक, मुरुण्ड, यवन, म्लेच्छ आभीर तथा कैङ्किल जातियों का उल्लेख मिलता है। भारत में इन जातियों का शासन कुषाण राज्य के ध्वंस होने पर द्वितीय शताब्दी के बाद हुआ और आन्ध्र राज्य की समाप्ति लगभग २३६ ई० में हुई। मत्स्यपुराण में आन्ध्र नरेशों का पूरा वृत्त २६० ई० तक का वृत्त आन्ध्रवंश के अन्त तक का संगृहीत है। इस प्रकार ऐतिहासिक वृत्त के वर्णन के आधार पर मत्स्यपुराण का रचनाकाल तृतीय शताब्दी का अन्तिम भाग माना जा सकता है।

पुराण लक्षण और मत्स्यपुराण

सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित इन पांच विषयों का विवेचन पुराणों का मुख्य विषय है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

प्रायः सभी पुराणों में उपर्युक्त पांचों विषयों का विवेचन हुआ है। मत्स्यपुराण में उक्त पांच विषय पूर्णरूप से प्राप्त होते हैं। मूल प्रकृति में लीन गुणों के क्षोभ से समस्त चराचर जगत् तथा विश्व के विविध पदार्थों

की उत्पत्ति को सर्ग कहते हैं[1]। मत्स्यपुराण के प्रारम्भ में सृष्टि-प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया गया है। समस्त चराचर जगत् तथा विश्व के समस्त पदार्थों के प्रलय को प्रतिसर्ग कहते हैं[2]। मत्स्यपुराण के प्रारम्भ में प्रलय का सुन्दर वर्णन है। ब्रह्माजी द्वारा उत्पन्न सभी राजाओं की भूत, भविष्य तथा वर्तमान कुलपरम्परा को वंश कहते हैं[3]। मत्स्यपुराण में राजाओं और ऋषियों की वंशपरम्परा का विस्तृत वर्णन है।

मनु, मनुपुत्र, देवता, इन्द्र, ऋषि और भगवान् के अंशावतार इन छः प्रकार की घटनाओं का वर्णन 'मन्वन्तर' है[4]। मन्वन्तर चौदह होते हैं। मत्स्यपुराण में चौदह मन्वन्तरों का विस्तृत वर्णन हुआ है।

विभिन्न वंशों में उत्पन्न महर्षियों एवं राजाओं के चरित्र तथा वंश-परम्परा को 'वंशानुचरित' कहते हैं[5]। वंशानुचरित का वर्णन पुराणों का महत्त्वपूर्ण विषय है। मत्स्यपुराण में अनेक अध्यायों में वंशानुचरित का विस्तार से वर्णन हुआ है। इस प्रकार पुराण-लक्षण मत्स्यपुराण में पूर्णरूप से घटित होता है। अतः यह पञ्चलक्षण समन्वित महापुराण कहा जाता है।

मत्स्यपुराण का वर्ण्यविषय

मत्स्यपुराण पुराणवाङ्मय में प्राचीन पुराण है। इस पुराण का प्रारम्भ मनु तथा मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णु के संवाद से प्रारम्भ होता है। इसमें कुल २९१ अध्याय तथा २३००० श्लोक हैं। इस पुराण के प्रथम अध्याय में मत्स्यावतार की कथा, द्वितीय में मनु-मत्स्य संवाद वर्णित है। तदनन्तर विविध सृष्टि, मनुवंश, सूर्यवंश तथा पितृवंश का वर्णन है। तेरहवें अध्याय में वैराज पितृवंश का विस्तृत वर्णन है। चौदहवें अध्याय में अग्निष्वात्त पितरों तथा पन्द्रहवें अध्याय में बर्हिषद् पितरों का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। इसके बाद सात अध्यायों (१६–२३ अध्यायों)

१. श्रीमद्भागवत पु०–१२।७।१६।

२. तदेव–१२।७।११।

३. तदेव–१२।७।१७।

४. तदेव–१२।७।१६।

५. तदेव–१२।७।१५।

में श्राद्धकल्प का सविस्तर वर्णन है। २३ तथा २४ वें अध्याय में सोमवंश का वर्णन तथा २५-४२ अध्याय तक ययाति का आख्यान तथा देवयानी एवं शर्मिष्ठा के प्रसङ्गों का विस्तार से वर्णन हुआ है। इसके बाद ४३-४८ अध्यायों में यदुवंश का वर्णन तथा भगवान् कृष्ण की कथा वर्णित है। तत्पश्चात् ४९-५१ तक पुरुवंश, कुरुवंश तथा अग्निवंश का वर्णन है। ५३ वें अध्याय में सभी पुराणों के वर्ण्यविषय का विस्तृत विवेचन है।

तदनन्तर ५४-१०१ अध्यायों में अनेक प्रकार के व्रतों तथा दान का विवरण दिया गया है। १०२-१११ तक इन दस अध्यायों में प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा उसके माहात्म्य का वर्णन किया गया है। तदनन्तर ११२-११३ अध्यायों में जम्बूद्वीप तथा भारत का वर्णन है। तत्पश्चात् ११४-१२७ अध्यायों में हिमालय, कैलास, सात द्वीपों, पृथिव्यादि का प्रमाण तथा सूर्यादि ग्रहों की गति का वर्णन हुआ है।

तत्पश्चात् १२८-१३९ अध्यायों में मयासुर का आख्यान, त्रिपुरनिर्माण, त्रिपुरदाह का विवरण तथा देवासुर संग्राम एवं तारकवध का सविस्तार वर्णन किया गया है। १४१-१४३ अध्यायों में चतुर्युग का विवरण दिया गया है। १४५-१५९ अध्यायों में तारकासुर-उपाख्यान, देवासुर संग्राम, शिव-पार्वती का आख्यान तथा कुमारोत्पत्ति का प्रसङ्ग वर्णित है। तत्पश्चात् नरसिंहावतार की कथा, ब्रह्मोत्पत्ति, मधुकैटभ एवं विष्णु का प्रादुर्भाव, देवासुर संग्राम, कालनेमि का आख्यान १६०-१७८ अध्यायों में वर्णित है।

तदनन्तर छः अध्यायों (१७९-१८४ तक) में वाराणसी का माहात्म्य तथा १८५ से १९३ तक नौ अध्यायों में नर्मदा का माहात्म्य प्रतिपादित है। तत्पश्चात् १९४ से लेकर २०१ अध्याय तक भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, पराशर तथा अगस्त्य आदि ऋषियों के वंशों का विवरण प्राप्त होता है। तत्पश्चात् सावित्री-सत्यवान् की कथा सात अध्यायों में वर्णित है।

२१४वें अध्याय से २४३वें अध्याय तक राजनीति शास्त्र, तथा राजधर्म का वर्णन एवं विविध प्रकार की शान्ति तथा शुभाशुभ शकुनशास्त्र का वर्णन हुआ है। तदनन्तर वामनावतार एवं वाराहावतार की कथा तथा

समुद्रमन्थन का वृत्तान्त वर्णित है। २५१ से लेकर २६९ तक प्रासाद एवं गृह-निर्माण, विविध देवताओं की प्रतिमा तथा प्रतिष्ठा-पीठ के निर्माण की विधि विस्तार के साथ वर्णित है। तत्पश्चात् विविध प्रकार के दान की विधि एवं महत्त्व प्रतिपादित है।

मत्स्यपुराण में श्राद्ध, दान, मूर्तिपूजा, व्रतादि का विशेष वर्णन है। मूर्तिनिर्माण के प्रकरण में शिव की विभिन्न मूर्त्तियों के निर्माण की कला विशदता से वर्णित है। मत्स्यावतार की कथा इस पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

विष्णु-पुराण

विष्गुपुराण समस्त पुराणों में तृतीय पुराण है, किन्तु देवीभागवत के अनुसार यह नवम पुराण है। इस पुराण के कुल दो भाग हैं—पूर्वभाग और उत्तरभाग। किन्तु इस समय केवल पूर्वभाग ही उपलब्ध है। पूर्वभाग में छः अंश और १२६ अध्याय हैं। नारदीय पुराण के अनुसार कुछ विद्वान् विष्गुधर्मोत्तर पुराण को उत्तरभाग मानते हैं; किन्तु डा० विल्सन इस मत को स्वीकार नहीं करते। इस पुराण में कुल छः हजार श्लोक हैं, किन्तु मत्स्य, नारद तथा भागवतपुराणों में विष्गुपुराण की श्लोकसंख्या तेईस हजार बतायी गयी है[1]। बल्लालसेन ने भी तेईस हजार श्लोकवाले विष्णुपुराण का उल्लेख किया है। नारदपुराण में विष्णुधर्मोत्तरपुंराण को विष्णुपुराण का परिशिष्ट माना है, अतः उस की श्लोकसंख्या सम्मिलित कर कुछ विद्वान् विष्गुपुराण की तेईस हजार श्लोकसंख्या की पूर्ति करते हैं, किन्तु आधुनिक विद्वान् विष्णुधर्मोत्तरपुराण को उपपुराण मानते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण के दोनों भागों में कुल मिलाकर तेईस हजार श्लोक रहे होगें; किन्तु द्वितीय भाग के उपलब्ध न होने से

---

१. (क) त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः।
(मत्स्यपुराण–४३।१७)

(ख) शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वैष्णवं महत्।
त्रयोविंशतिसाहस्रं सर्वपातकनाशनम्॥
(नारदपुराण–९४।१)

अथवा कालकवलित हो जाने से केवल प्रथम भाग ही उपलब्ध है, जिसमें कुल श्लोक छः हजार हैं। इस पुराण में प्रमुखरूप से विष्णु के माहात्म्य का प्रतिपादन है और सृष्टिकर्त्ता एवं रक्षक विष्णु से ब्रह्मा तथा शिव को अभिन्न बतलाया गया है। विष्णु से सम्बन्धित होने के कारण ही इसे 'वैष्णवपुराण' कहते हैं। इस पुराण की तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं— श्रीधरस्वामी की श्रीधरीटीका, विष्णुचित्त की विष्णुचित्तीयटीका और रत्नगर्भ भट्टाचार्य की वैष्णवाकूतचन्द्रिका; किन्तु इनमें 'विष्णुचित्तीया' टीका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

विष्णुपुराण के प्रवक्ता

विष्णुपुराण के प्रवक्ता महर्षि पाराशर हैं। उन्होंने वाराहकल्प के वृत्तान्त को लिखकर इस पुराण का प्रवचन मैत्रेय को किया था। प्रारम्भ में मैत्रेय महर्षि पाराशर से विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते है और पाराशर उनसे विश्व की सृष्टि का व्याख्यान करते हैं। इस पुराण के प्रथम अंश में वशिष्ठ के पौत्र शक्तिनन्दन द्वारा वशिष्ठ से प्रश्न करने का भी निर्देश है, अतः इस आधार पर इस पुराण के आदि प्रवक्ता वशिष्ठ माने जाते हैं। महर्षि पराशर ने स्वयं कहा है कि इस पुराण को उन्होंने अपने पितामह वशिष्ठ से सुना है। इस प्रकार प्रथम प्रवक्ता वशिष्ठ माने जाते हैं। किन्तु वर्तमान विष्णुपुराण के प्रवक्ता पराशर कहे जाते हैं[1]। इस पुराण के अन्त में उपलब्ध एक प्रसङ्ग में पराशर मैत्रेय से कहते हैं कि प्राचीनकाल में ब्रह्मा ने इस पुराण को सर्वप्रथम ऋभु को सुनाया था और ऋभु ने प्रियव्रत को सुनाया था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस पुराण का प्रवचन मैंने तुमसे किया है। इस आधार पर इस पुराण के आदि प्रवक्ता ब्रह्मा माने जाते हैं।

लिङ्गपुराण के एक प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि ब्रह्मा के पुत्र महर्षि पौलस्त्य ने शक्तिपुत्र पराशर को वर दिया था कि 'आप पुराण-संहिता के रचयिता होंगे।' उनके वचन का समर्थन महर्षि वशिष्ठ ने

१. वाराहकल्पवृत्रान्तमधिकृत्य पराशरः
यत्प्राह धर्मानखिलांस्तदुक्तं वैष्णवं विदुः ॥
(मत्स्यपुराण–५३।१६-१७)

किया था। तदनुसार पराशर ने छः अंशों में छः हजार श्लोकों से युक्त विष्णुपुराण की रचना की[1]। इस प्रकार विष्णुपुराण के रचयिता पराशर ही माने जाते हैं।

विष्णुपुराण का रचना काल

विष्गुपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। किन्तु वे इस विषय में एकमत नहीं दिखाई देते। पार्जिटर महोदय का कथन है कि इस पुराण में बौद्ध एवं जैन मतों का उल्लेख हाने से इस पुराण की रचना ब्राह्मणवाद की समाप्ति के पश्चात् पञ्चम शताब्दी में हुई होगी[2]। विन्टरनित्ज महोदय पार्जिटर के मत से सहमत होते हुए कहते हैं कि विष्णुपुराण पञ्चम शताब्दी के अधिक बाद की रचना नहीं है[3]। डा० फर्गुहर का मत है कि हरिवंशपुराण का रचनाकाल ४०० ई० है, अतः रचनासादृश्य के आधार पर विष्णुपुराण का भी वही समय हो सकता है[4]। सी. वी. वैद्य का कथन है कि विष्णुपुराण में उल्लिखित कैङ्किल नामक पवन राजाओं ने ५७५ से ९०० ई० के बीच आन्ध्र पर शासन किया था और ७८२ ई० में उनका प्रभुत्व चरम सीमा पर था[5]। इस आधार पर वे विष्णुपुराण का रचनाकाल नवम शताब्दी के पहले का नहीं मानते।

---

१. पुराणसंहिताकर्त्ता भावान् भुवि भविष्यति।
अथ तस्य पुलस्त्यस्य वशिष्ठस्य च धीमतः।
प्रसादाद् वैष्णवं चक्रे पुराणं वै पराशरः।
षट्प्रकारं समस्तार्थसाधकं ज्ञानसञ्चयम्॥
षट्साहस्रमितं सर्वं वेदार्थेन संयुतम्॥
(लिङ्गपुराण—६४।११७,१३१)

२. प्राचीन भारतीय इतिहास, पृ० ८०।

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० २०९।

४. फर्गुहर–Out line–पृ०–१४३।

५. प्राचीन भारतीय इतिहास—पृ० २०९ (C. V. Vaidya–Hist. of Medi. पृ० ३५०)

वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी में विष्णुपुराण के अनेन श्लोक उद्धृत किये हैं। अतः विष्णुपुराण का समय प्रथम-शताब्दी के पूर्व का माना जाना चाहिए। विष्णुपुराण और भागवतपुराण के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि विष्णुपुराण भागवतपुराण से प्राचीनतर है। विन्टरनित्ज के मतानुसार विष्णुपुराण के कुछ विषय भागवत में उद्धृत हैं। कुछ पौराणिक कथाएँ, जो विष्णुपुराण में संक्षिप्त एवं प्राचीनरूप में उपलब्ध हैं, वे भागवत में अधिक विस्तृत एवं आधुनिक रूप में वर्णित हैं। भागवत में विष्णु के हंसावतार की चर्चा है, किन्तु विष्णुपुराण में इसकी चर्चा नहीं है। इस प्रकार विष्गुपुराण भागवत से प्राचीन सिद्ध होता है, अतः विष्णुपुराण की रचना षष्ठ शताब्दी के पूर्व मानी जा सकती है, क्योंकि डा० हाजरा भागवतपुराण का रचनाकाल षष्ठ शताब्दी मानते हैं[१]।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार विष्गुपुराण में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से मानी गई है[२]। वराहमिहिर ने उक्त क्रम का परिवर्तन कर अश्विनी से नक्षत्रों की गणना प्रारम्भ की है। इस आधार पर हजारा महोदय विष्णुपुराण का समय ५५० ईसवी से प्राचीन मानते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुपुराण में अनेकत्र राशियों का उल्लेख मिलता है। ऐसा कहा जाता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के युग तक लोग तिथि, नक्षत्र, ग्रहोपग्रहों से परिचित हो चुके थे, किन्तु उस समय तक राशिसंस्थान से परिचित नहीं थे। विष्णुपुराण में राशिसंस्थान का जो विवरण प्राप्त होता है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय तक राशिचक्र पूर्ण प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका था। हाजरा महोदय के मतानुसार राशिसंस्थान से परिचित विष्णुपुराण का रचनाकाल प्रथम शताब्दी के पूर्व का नहीं माना जा सकता[३]।

---

१. डा० हाजरा

२. कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः।
दृष्टार्कपतितं ज्ञेयं तद् गाङ्गं दिग्गजोज्झितम्॥
(विष्णुपुराण—२।९।९६)

३. डा० हाजरा—'The date of vishnu Purana'
(भाण्डारकर पत्रिका भाग १८, ई० सं० १९३६-३७)

डा० रामचन्द्र दीक्षितार का कथन है कि तमिलग्रन्थ 'मणिमेखले' में विष्णुपुराण का स्पष्ट उल्लेख है और मणिमेखले का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी माना जाता है, अतः द्वितीय शताब्दी के पूर्व विष्णुपुराण की रचना हो चुकी थी[1]।

डा० पारसनाथ द्विवेदी का मत है कि सभी वैष्णव पुराणों का अंतिम संस्करण गुप्तकाल में हो चुका था[2]। विष्णुपुराण एक वैष्णव पुराण है। वैष्णव सम्प्रदाय का पुनरुद्धार गुप्तकाल में हुआ है, ऐसा अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है। दूसरे विष्णुपुराण में गुप्तवंशीय राजाओं का उल्लेख है। अतः विष्णुपुराण का रचनाकाल गुप्तकाल तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य का मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

पुराणलक्षण और विष्णुपुराण

सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच विषयों का विवेचन पुराणों का मुख्य विषय है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण का यह लक्षण प्रायः सभी पुराणों में प्राप्त होता है। विष्णुपुराण में उक्त पाँचों विषय स्पष्टरूप से प्रतिपादित हैं। सृष्टि, प्रलय, वंश वर्णन, राजाओं के उपाख्यान, मन्वन्तरवर्णन, धर्म के विविध अङ्गों का प्रतिपादन इस पुराण में किया गया है।

सम्पूर्ण जगत् और विश्व के विविध पदार्थों की उत्पत्ति ही सर्ग है[3]। विष्णुपुराण में सृष्टि का वर्णन विस्तार के साथ वर्णित है। समस्त

---

१. दि एज आफ दि विष्णुपुराण—इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली भाग–७ ई० १९३१ पृ० ३७०-३७१।

२. Agra University journal of Research val. XIX. H. II पृ० ८५-८६

३. अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमामेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।
(भागवतपुराण—१२।७।११)

चराचर जगत् का समय-समय पर प्रलय हो जाना प्रतिसर्ग' है[१]। विष्णुपुराण में प्रतिसर्ग के लिए 'प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग हुआ है।

ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न सभी राजाओं की भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालीन सन्तान-परम्परा को 'वंश' कहते हैं[२]। यहाँ पर 'वंश' से केवल राजवंश का ही ग्रहण अभीष्ट नहीं है, बल्कि ऋषियों के वंश का ग्रहण भी अभिप्रेत है। विष्णुपुराण में राजाओं तथा ऋषियों की वंश-परम्परा का विस्तृत वर्णन है।

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और हरि के अंशावतार की घटनाओं का वर्णन मन्वन्तर है[३]। पुराणों के अनुसार मन्वन्तर शब्द कालगणना का द्योतक है। विष्णुपुराण में मन्वन्तरों का वर्णन हुआ है। विभिन्न वंशों में उत्पन्न वंशधरों तथा उनके वृत्तों का वर्णन वंशानुचरित है[४]। इसमें राजवंशों एवं महर्षियों के चरित का विशेष विवरण वर्णित होता है। विष्णुपुराण में वंशानुचरित का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार विष्णुपुराण में उपर्युक्त पाँचों विषय प्राप्त हैं, अतः यह पञ्चलक्षणसमन्वित पुराण है।

विष्णुपुराण का वर्ण्य विषय

विष्णुपुराण में कुल छः अंश (खण्ड) हैं। प्रथम अंश में २२ अध्याय हैं। उसका प्रारम्भ वशिष्ठ के पौत्र पराशर और उनके शिष्य मैत्रेय के संवाद से प्रारम्भ होता है। मैत्रेय महर्षि पराशर से विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं और पराशर उनका उत्तर देते हैं। इस खण्ड में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों की उत्पत्ति, पृथ्वी की रचना एवं उसके उद्धार

---

१. भागवतपुराण—१२।७।१७।

२. राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।
(भागवतपुराण—१२।७।१६)

३. मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधामुच्यते।
(भागवतपुराण—१२।७।१५)

४. वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये।
(भागवतपुराण—१२।७।१६)

की कथा, अविद्यादि विविध सर्गों का वर्णन राजाओं एवं ऋषियों के आख्यान वर्णित हैं।

द्वितीय अंश में १६ अध्याय हैं। प्रथम १-१२ अध्यायों में सात द्वीपों, सात समुद्रों; जम्बूद्वीप, मेरुपर्वत, पाताल लोक, नागलोक तथा नरकादि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र-मण्डल, राशिव्यवस्था कालचक्र, लोकपाल, गंगावतरण, ज्योतिष्चक्रादि का मनोरम वर्णन है। इस अंश के १३-१६ अध्यायों में जड़ भरत का चरित्र वर्णित है। इस संदर्भ में भारतवर्ष के नामकरण का भी प्रसङ्ग आया है।

तृतीय अंश में १८ अध्याय हैं। उसमें मनु एवं मन्वन्तर के वर्णन के अनन्तर चार वेदों, महर्षि वेदव्यास तथा उनके अट्ठाइस नामों और उनके शिष्यों द्वारा किये गये वेद के विभागों एवं अनेक वैदिक सम्प्रदायों की चर्चा की गई है। तदनन्तर अष्टादश पुराणों की परिगणना एवं समस्त शास्त्रों तथा कलाओं की सूची दी गई है। इसी अंश में वर्णाश्रमधर्म, संस्कार-विधि, विवाह के उत्सव, गृहस्थ-आचार, आतिथ्य-सत्कार के नियम, श्राद्धविधि का भी वर्णन हुआ है। इसी खण्ड के अन्तिम दो अध्यायों में वेद-विरोधी नास्तिक मतों का उल्लेख है।

चतुर्थ अंश में २४ अध्याय हैं, जिसमें ऐतिहासिक विषय-वस्तु का प्रतिपादन हुआ है। इसमें सूर्य एवं चन्द्रवंशीय राजाओं की वंशावलियाँ दी गई हैं। इसमें विविध प्रकार के अद्भुत आख्यान प्रतिपादित हैं। उर्वशी पुरूरवा-संवाद, ययाति-आख्यान, पांडव-कथा, कृष्ण-चरित, रामायण एवं महाभारत की कथा आदि। तदनन्तर भविष्य में होनेवाले मगध, शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुङ्ग, आन्ध्रभृत्य आदि राजाओं तथा उनके वंशों का वर्णन है।

पञ्चम अंश में ३८ अध्याय हैं। इसमें कृष्ण-चरित, कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह कथानक हरिवंशपुराण से साम्य रखता है। इस खण्ड में वैधी एवं रागानुगा भक्ति का सुन्दरतम विवेचन है। वैधी भक्ति की तीन प्रणालियाँ हैं। विष्णुपुराण में तीनों पद्धतियों का वर्णन है। रागानुगा भक्ति में प्रेमभक्ति का विस्तारपूर्वक

वर्णन है। इसमें नवधा भक्ति तथा भक्ति की महत्ता का विस्तृत वर्णन है।

षष्ठ अंश में कुल आठ अध्याय है। इसमें कृतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि इन चार युगों का वर्णन तथा कलि के दोषों का भविष्य-कथन के रूप में प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें कलिधर्म का निरूपण, शूद्र तथा स्त्रियों का महत्त्व-वर्णन, त्रिविध तापों तथा अनेक प्रकार के प्रलयों का वर्णन है। अन्तिम के पहले दो अध्यायों में ज्ञान पाने का साधन योगमार्ग तथा विष्णु का ध्यान योग का सुन्दर वर्णन है। अन्तिम अध्याय में सम्पूर्ण पुराण का सारांश देकर विष्णु की स्तुति एवं प्रार्थना के बाद पुराण की समाप्ति होती है।

पुराण और कथा-साहित्य

प्राचीनकाल में इतिहास-पुराण शब्द से 'प्राचीन कथा' अर्थ लिया जाता था। अथर्ववेद में पुराण शब्द से प्राचीन कथा अर्थ ही लिया गया है[1]। सायण ने भी अथर्ववेदभाष्य में पुराण शब्द का अर्थ पुरातनवृत्तान्त कथनरूप आख्यान किया है[2]। सायण ने इतिहास-पुराण का पार्थक्य दिखाते हुए देवासुरकथा को इतिहास तथा विश्व की उत्पत्ति-कथा को पुराण कहा है[3]; किन्तु सायण के पूर्व 'इति ह आस' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भूतकालीन कथा को इतिहास कहा जाता था। शौनक ने भी बृहद्देवता में पुरातनवृत्तान्त को इतिहास कहा है[4]। कौटल्य ने पुराण का परिगणन इतिहास के अन्तर्गत किया है[5]। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कथा

---

१. Vidi Griffith; Hymns of the Atharva Ved; 1917, Vol II pp 7 and 19 foot Note.

२. पुराणं पुरावृत्तान्तकथनरूपमाख्यानम् (अथर्ववेद, सायणभाष्य—११।४।६।२४)

३. देवासुरा संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासाः..........
सर्गप्रतिपादक वाक्यजातं पुराणम् (ऐतरेयब्राह्मण-सायणभाष्य, पृ० ४)

४. इतिहासः पुरावृत्तं ऋषिभिः परिकीर्त्यते।
(बृहद्देवता ४।४६)

५. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रं चेतिहासः।
(कौटलीयार्थशास्त्र १।५।१३)

के अर्थ में आख्यान, आख्यायिका, अन्वाख्यान (उपाख्यान) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन्हीं आख्यानोपाख्यानादि को आधार मानकर महर्षि व्यास ने पुराणसंहिता की रचना की है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है कि महर्षि व्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि का आधार लेकर पुराणसंहिता की रचना की है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः[1] ॥

आख्यान—आख्यान शब्द का प्रथम उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण में शुनःशेप के आख्यान के रूप में मिलता है और उसी ग्रन्थ में आख्यानविद् का भी उल्लेख है[2]। ये आख्यानविद् आख्यान सुनाने में कुशल होते थे। आख्यायिका का उल्लेख तैत्तिरीय-आरण्यक में प्राप्त होता है और इतिहास-पुराण का उल्लेख उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है। गेल्डनर के मतानुसार इतिहास-पुराण एक ही ग्रन्थ था, जिसमें सब तरह की कथाएँ निबद्ध थीं[3]। पतञ्जलि आख्यान, आख्यायिका, इतिहास-पुराण इन चारों को पृथक् मानते हैं। उन्होंने आख्यान को काल्पनिक कथा बताया है और आख्यान के यावक्रीतिक, प्रैयङ्गविक और यायातिक ये उदाहरण बताये हैं तथा आख्यायिका के वासवदत्ता सुमनोत्तरा, भैमरथी ये उदाहरण दिये हैं[4]। इस प्रकार यवक्रीत, प्रियङ्गु आदि की कथाएँ आख्यान हैं और वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी आदि की कथाएँ आख्यायिका के अन्तर्गत आती हैं। इनसे प्रतीत होता है कि आख्यानों में देवता, देवर्षि, राजर्षि आदि की अतिप्राचीन कथाएँ होती थीं और आख्यायिका में लौकिक

---

१. विष्णुपुराण—३।६।१५।
२. ऐतरेयब्राह्मण—७।१८।१०; ३।२५।१।
३. Vediscne Studien I, पृ० 210।
४. आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च (वार्त्तिक, कात्यायन)
आख्यान-यावक्रीतिकः, प्रैयङ्गविकः, यायातिकः।
लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम् (वार्त्तिक)
वासवदत्ता। सुमनोत्तरा। भैमरथी।
(महाभाष्य—४।२।६० तथा ४।३।८७)।

कथाएँ या ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ होती थीं। आख्यायिका में किसी दिव्य-चरित्र का वर्णन नहीं होता है।

उपाख्यान—आख्यान के साथ उपाख्यान शब्द भी मिलता है। शतपथब्राह्मण में उपाख्यान शब्द का प्रयोग मिलता है[१]। श्रीधरस्वामी स्वयं दृष्ट अर्थ के कथन को आख्यान तथा वक्ता के द्वारा परम्परया श्रुत (सुने गये) अर्थ के कथन को उपाख्यान कहा है[२]। किन्तु अन्य विद्वानों ने आकार में जो कथा बृहद् हो, उसे आख्यान और जो स्वल्प आकार का कथानक हो उसे उपाख्यान कहा है। जैसे रामायण में राम का कथानक आख्यान है और सुग्रीव का कथानक उपाख्यान।

इसके अतिरिक्त कथा के अर्थ में आचिख्यासा शब्द का प्रयोग भी हुआ है। सृष्टि की उत्पत्ति कथा को 'आचिख्यासा' कहते हैं। इस प्रकार आचिख्यासा का अर्थ पुराण लिया जा सकता है; क्योंकि प्राचीनकाल में इस प्रकार की उत्पत्ति कथा के लिए पुराण शब्द प्रयुक्त होता रहा है। जैसाकि सायण ने ऐतरेयब्राह्मणभाष्य में विश्व की उत्पत्ति कथा को पुराण कहा है[३]। इस प्रकार आख्यान को इतिहास-पुराण के अन्तर्गत मान्यता प्रदान की गयी है।

गाथा—प्राचीन भारतीय साहित्य में कुछ ऐसी गाथाएँ मिलती हैं, जिनमें किसी असामान्य नृपति के शौर्य एवं उनके दान का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। ऋग्वेद में ऐसी गाथाओं को नाराशंसी नाम से अभिहित किया गया है। शतपथब्राह्मण में भी नाराशंसी कथाओं को गाथा कहा गया है[४]। शौनक ने नाराशंसी शब्द के लिए 'दान-

---

१. शपथब्राह्मण—६,५,२,२०।६;४;८।

२. स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥
(विष्णुपुराण—३।६।१५ की श्रीधरी टीका)

३. ऐतरेयब्राह्मण, सायणभाष्य—पृष्ठ–४।
'सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्'।

४. शतपथब्राह्मण, नाराशंस्यो गाथा—१०।५।६।८।

स्तुति' शब्द का प्रयोग किया है[१]। ऐतरेयब्राह्मण में ईश्वरीय रचना को ऋक् तथा मानवी संरचना को गाथा कहा गया है[२]। ऐतरेयब्राह्मण में अनेक प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। उनमें से कुछ गाथाएँ पुराणों के राजवर्णन में उसी रूप में उद्धृत हैं। पुराणों में भी ऐसी अनेक गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें किसी महापुरुष के जीवन-दर्शन का इतिहास अभिव्यक्त किया गया है। वस्तुतः ये गाथाएँ किसी ऐतिहासिक महापुरुष की प्रशंसा, दान, शौर्य, अभिषेक आदिसे सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन करती हैं। कभी-कभी तो एक लघु गाथा में ही एक बृहद् इतिहास का आख्यान अन्तर्हित मिलता है।

इस प्रकार जहाँ एक ओर ये नाराशंसी गाथाएँ ऋग्वेद की दान-स्तुतियों तथा किसी असामान्य नृपति या महापुरुष के जीवन-दर्शन से सम्बद्ध हैं, वहाँ दूसरी ओर वीर योद्धाओं एवं राजाओं के अद्भुत कर्म एवं शौर्य के वर्णन से भी सम्बद्ध हैं। बाद में ये नाराशंसी गाथाएँ वीर कविताओं तथा इतिहास-गान की परम्पराओं में परिणत हो गयीं, जिनका केन्द्र कोई असामान्य नृपति या कोई महान् घटना हुआ करती थी। युद्ध के अवसर पर राजदरबार में महोत्सवों के अवसर पर सूत अथवा गायक इन वीर-गाथाओं का ज्ञान किया करते थे। ये सूत समय-समय पर वीर-कविताओं एवं गाथाओं की रचना कर अपने आश्रयदाताओं को सुनाया करते थे। इस प्रकार वीर-गाथाओं का प्रचार हुआ।

कल्पशुद्धि—कल्पशुद्धि से तात्पर्य धर्मशास्त्रीय विषयों और भिन्न-भिन्न प्रकार की शुद्धियों से है; किन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं प्रतीत होता। कल्पशुद्धि के स्थान पर 'कल्पजोक्तिभिः' पाठ मिलता है। उक्त पाठ के आधार पर कल्पजोक्तिभिः' का अर्थ भिन्न-भिन्न कल्पों में होनेवाले विषयों का विवरण प्रस्तुत करना है। इससे सिद्ध होता है कि पुराणों के अन्तर्गत कल्पों में वर्णित विषय भी सम्मिलित हैं।

इस प्रकार शताब्दियों से चले आते हुए आख्यानों, उपाख्यानों, आख्यायिकाओं, गाथाओं का आधार ग्रहणकर महर्षि व्यास ने पुराणसंहिता का संकलन किया। उन्होंने उक्त संहिता को अपने शिष्य सूत रोमहर्षण

२. बृहद्देवता—III; १५४।
३. ऐतरेयब्राह्मण—७।१८।

को पढ़ाया और रोमहर्षण ने अपने शिष्यों को पढ़ाकर उनके द्वारा प्रचार-प्रसार करवाया। ये सूत पुराणों का प्रवचन करते थे और कथा को रोचक बनाने के लिए अवान्तर कथाओं की सृष्टि करके मूल कथाओं में उनका समावेश भी कर लिया करते थे।

कथा-कोष

कोष-लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक काल से ही कोष-विषयक ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे, किन्तु वे कोष-ग्रन्थ आज के कोष-ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न थे। ऐसे कोष-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनके नाम एवं उद्धरणों से उनके अस्तित्व का पता चलता है। उपलब्ध कोषों में 'निघण्टु' सबसे प्राचीन है। महर्षि कश्यप ने वेदों से कठिन शब्दों का संग्रह कर 'निघण्टु' नामक कोष की रचना की थी। यास्क ने निघण्टु में संगृहीत शब्दों का प्रयोग दिखाते हुए उनके अर्थ का भी निर्णय किया है। तदनन्तर कोषों की निर्माण-परम्परा विकसित होती हुई आगे बढ़ी और लौकिक साहित्य में भी अनेक प्रकार के कोष लिखे जाने लगे।

वैदिक काल से लेकर आज तक अनेकों कोषग्रन्थ लिखे जा चुके हैं; किन्तु वे सब प्रायः शब्दकोष हैं। आज हमें केवल शब्दकोषों की ही आवश्यकता नहीं हैं, बल्कि ऐसे कोषों की आवश्यकता है, जिनके द्वारा प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत विषयों का ज्ञान भी हो सके। संस्कृत-साहित्य अत्यन्त विशाल है। आज का प्राणी इतना साधन-सम्पन्न नहीं है कि वह इतने विशाल वाङ्मय का अध्ययन कर सके। आज आवश्यकता है कि उस विशाल संस्कृत-वाङ्मय के अन्तर्गत जो भी विषय आये हैं, चाहे वे राजनीतिक, धार्मिक; साहित्यिक एवं सामाजिक हों अथवा आख्यान, चरित एवं कथाएँ हों, उनका संग्रह कर एक कोष तैयार किया जाय। इस दिशा में कुछ कार्य हो भी रहा है; किन्तु वह नहीं के बराबर है।

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मानव-समाज वेदों की उन उच्चतम व्याख्याओं एवं पुराणों में वर्णित राम, कृष्ण, सीता सावित्री आदि के चरित्र एवं आचारो से शिक्षा प्राप्त करता आया है। हमारे देश

के वैदिक विद्वानों एवं पौराणिक कथावाचकों, प्रवचनकर्त्ताओं ने देशवासियों को जीवन के उच्चतम मूल्यों के प्रति सचेत किया है। ऐसे विद्वानों एवं सुप्रसिद्ध कथावाचकों के प्रवचन एवं कथाओं को सुनने के लिए आज भी विशाल जन-समूह एकत्रित हुआ करता है। उन विद्वानों के उपदेशों, प्रवचनों एवं कथाओं को देशवासियों के चरित्र एवं नैतिक समुन्नयन का अच्छा साधन बनाया जा सकता है। किन्तु आगे ऐसे विद्वानों, प्रवचनकर्त्ताओं एवं कथावाककों का अभाव खटक रहा है।

पुराण-वाङ्मय में ऐसे अनेक आख्यान, उपाख्यान, चरित एवं कथाएँ विद्यमान हैं, जिनके द्वारा मानव-समाज अपना चारित्रिक विकास एवं सामाजिक उत्थान कर सकता है। अतः प्रत्येक भारतीय को अपने चरित्र का निर्माण करने के लिये तथा सामाजिक उत्थान एवं आध्यात्मिक कल्याण के लिये पुराण-वाङ्मय का अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि उनमें वर्णित चरित एवं आख्यान उनके चरित्र, आचार एवं धार्मिक अनुष्ठानों का अनुशासन करते हैं।

ऐसी स्थिति में आज के मानव के पास इतना अधिक समय नहीं है कि वह इतने विशाल वाङ्मय का समूचा अध्ययन कर सके। अतः पौराणिक वाङ्मय के अध्ययन की जिज्ञासा होने पर भी वह उस ओर प्रवृत्त नहीं हो पाता। उसके सामने एक और कठिनाई है कि आज इस प्रकार के आचारवान् विद्वान् पुराणवेत्ता एवं प्रवचनकर्त्ता नहीं मिल पाते, जो अपने प्रवचनों एवं कथोपदेश द्वारा उन्हें प्रभावित कर सकें। अतः अनुभव किया गया कि पौराणिक कथाओं एवं चरित्रों का संग्रह कर कोष के रूप में प्रकाशित किया जाय। ऐसा करने पर समस्त पौराणिक कथाएँ एवं चरित्र एक स्थल पर सुलभ हो सकेंगे और मानव सरलता से उनका ज्ञान कर सकेगा। उक्त आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही मैंने 'पुराण-कथा-कोष' तैयार करने का विचार किया है।

पहले तो मेरा विचार था कि समस्त पुराणों से कथाओं का संग्रह कर 'कथा-कोष' तैयार किया जाय; किन्तु समस्त पुराणों का अध्ययन कर उनकी कथाओं के संग्रह करने में अधिक समय लग सकता था, अतः

यह विचार किया गया कि पहले किसी एक पुराण का कथाकोष तैयार कर उसे प्रकाशित कराया जाय। इसी प्रकार जब सभी पुराणों कीं कथाओं का अलग-अलग कोष तैयार हो जाय तब उसे क्रमबद्ध कर एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जायगा और उनकी कथाओं में जहाँ अन्तर तथा विरोध दृष्टिगोचर होंगे, उनका भी समाधान कर लिया जायगा। आज पौराणिक कथाओं पर जो आक्षेप किये जा रहे हैं, उन आक्षेपों के भी निराकरण का सप्रमाण प्रयत्न किया जायगा। पुराणों में ब्रह्मपुराण ही सर्वप्रथम पुराण है। अतः पहले ब्रह्मपुराण की कथाओं का संग्रह करके कथाकोष तैयार किया गया है। तत्पश्चात् मत्स्यपुराण तथा विष्णु-पुराण की कथाओं का संग्रह करके यह कथा-कोष तैयार किया गया है।

आज 'मत्स्यपुराण' एवं 'विष्णुपुराण' कथाकोष को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए महान् हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह कथाकोष वैदिक एवं पौराणिक अध्ययन केन्द्र नैमिषारण्य, सीतापुर के प्राध्यापकों द्वारा मेरे सम्प्रेक्षण में तैयार किया गया है। इस कथाकोष में मत्स्य एवं विष्णु-पुराण की सभी कथाओं का अकारादिक्रम से संग्रह किया गया है। पुराण में जो कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं, उनका संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया है। जहाँ तक संभव हो सका है, कथाओं को सरल एवं सुबोध भाषा में लिखा गया है।

पुराणों में विविध प्रकार के आख्यान, उपाख्यान, गाथाएँ, चरित एवं कथाएँ वर्णित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'पुराण-कथा-कोष' है। आख्यान और कथा दोनों समानार्थवाचक हैं। अतः सौविध्य की दृष्टि के कथा के स्थान पर 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०३९ } श्रीगौरीनाथशास्त्री

पुराण-कथा-कोष

विषय-सूची

(मत्स्यपुराण)

———

(विष्णु-पुराण)



पुराण-कथा-कोष

(मत्स्य पुराण)

***

१. अन्धकासुर-आख्यान

दिति का एक महाबलशाली पुत्र अन्धक था। नेत्र रहते हुए भी वह मदान्ध होने के कारण अन्धों की तरह चलता था। इसी से उसका नाम अन्धक पड़ गया था। उसके आडि तथा बक दो पुत्र थे।

तपस्या के प्रभाव के कारण अन्धक देवताओं के लिए अवध्य हो गया था। एक बार जब अवन्ती के कालवन में महादेव पार्वती के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, तब अन्धकासुर उन्मत्त-सा वहाँ पहुँचा और पार्वती का हरण करने की कोशिश करने लगा। तब क्रुद्ध हुए रुद्र तथा अन्धक में भीषण युद्ध हुआ और शङ्कर के पाशुपतास्त्र से घायल होने पर उसके रक्त से अनेक अन्धक उत्पन्न हो गए। रुद्र ने उन अन्धकों को बाणों से आहत कर दिया; किन्तु उन अन्धकों के रुधिर से पुनः सहस्रों अन्धक पैदा हो गये। उत्पन्न होते ही उन अन्धकों ने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लिया। तब उन मायावी अन्धकों के नाश के लिए रुद्र ने १९७ मातृकाएँ उत्पन्न कीं, जिनमें माहेश्वरी, कौमारी, मालिनी, सौपर्णी, वायव्या आदि प्रमुख थीं। मातृकाओं ने उन अन्धकों का रुधिर पान करना प्रारम्भ किया; किन्तु वे पुनः बढ़ने लगे। तब खिन्न होकर शिव विष्णु की शरण में गए। तब उन्होंने 'शुष्क-रेवती' नामक एक मातृका को उत्पन्न किया। शुष्क रेवती ने क्षणभर में ही उन अन्धकों का रक्त पी डाला और वे विनाश को प्राप्त हो गये। अन्धकों के नष्ट हो जाने पर अन्धक निराश हो गया। तब भगवान् शङ्कर ने शूलास्त्र से उस पर प्रहार किया; किन्तु अन्धक ने शङ्कर को प्रसन्न कर लिया और शिव-गणों का स्वामित्व प्राप्त किया[१]।

---

१. मत्स्य पु० 55/16, 155/11-12 178/2-37, 251/5-19.

२. अनौपम्या-आख्यान

अनौपम्या राजा बलि के ज्येष्ठ पुत्र बाणासुर की पत्नी का नाम था। एक बार अनौपम्या ने नारद मुनि से कहा—हे भगवन् ! किस धर्म, व्रत, नियम, दान अथवा किस तप से देवगण प्रसन्न होंगे ? यह मुझे बताने की कृपा करें। तब नारद ने कहा कि तिल तथा धेनु का वेदज्ञानी ब्राह्मण को दान और उपवास में अनेक फलों के दान तथा अनग्निपाक से सभी पापों का विनाश तथा अमरत्व प्रात होता है। तब प्रसन्न होती हुई अनौपम्या ने कहा--बलि, बलि-पत्नी विन्ध्यावली तथा मेरी ननद कुम्भीनसी मुझे अत्यधिक तिरस्कृत करती रहती हैं। अतः हे भगवन् ! जिस प्रकार वे सब मेरे वश में हो जायँ और मैं उनकी प्रिय बन जाऊँ वैसा उपाय बताइये। मैं आजीवन आपकी दासी रहूँगी। तब नारद ने कहा—हे शुभानने ! पूर्वोक्त व्रत के अनुष्ठान से पार्वती जैसे शंकर की, लक्ष्मी जैसे विष्णु की, सावित्री जैसे ब्रह्मा की तथा अरुन्धती जैसे वशिष्ठ की हृदयदेवी हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने भर्त्ता बाण की प्रिय हो जाओगी तथा तुम्हारी सास एवं ननद आदि भी तुम्हारे वश में हो जायेंगी। तब अनौपम्या ने नारद द्वारा बतायी गई विधि से पूर्वोक्त व्रत का अनुष्ठान किया और उसके प्रभाव से सबको प्रसन्न कर लिया[1]।

३. आडि का आख्यान

आडि अन्धकासुर का पुत्र था। भगवान् शंकर द्वारा अन्धक के मार दिए जाने पर आडि दैत्य ने पिता का बदला लेने के लिए कठिन तपस्या की। उसके तप से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी उसके पास आये और कहने लगे—हे दानवश्रेष्ठ ! तुम तपस्या के द्वारा क्या प्राप्त करना चाहते हो ? तब आडि ने कहा –हे ब्रह्मन् ! मैं निर्मृत्यु का वरदान चाहता हूँ। ब्रह्मा बोले—निर्मृत्यु होना तो शरीर पाकर सम्भव नहीं है; तथापि तुम जिस प्रकार से चाहो उसी रूप में तुम्हारी मृत्यु होगी। आडि ने कहा--जब मैं अपने रूप को बदलूँ तभी मेरी मृत्यु हो अन्यथा मैं अमर बना रहूँ। तब ब्रह्मा के वर से वह दो बार रूप वदल सकता था। तीसरी बार मृत्यु निश्चित थी।

१. मत्स्य पु० 186/24-51.

एक बार जब शैलशुता पार्वती तपस्या करने के लिए अन्तरिक्ष में गयी थीं, तब उचित अवसर जानकर आडि ने भगवान् शंकर के निवास में जाने की सोची, किन्तु वहाँ मार्ग में पार्वतीपुत्र वीरक को अवरोधक जानकर उसे ब्रह्मा द्वारा दिया वरदान स्मरण हो आया और वह अपना सर्परूप बनाकर आगे निकल गया। शिव के समीप पहुँचकर उसने भुजङ्गरूप छोड़कर उन्हें छल से मारने के लिए पार्वती का रूप बना लिया। प्रथम तो शिव उसे नहीं पहचान पाये; किन्तु उसके छद्मरूप को समझते ही उन्होंने वज्र से उसका वध कर डाला[1]।

४. इलोपाख्यान

वैवस्वतमनु के इल, इक्ष्वाकु, कुशनाभ, अरिष्ट, धृष्ण, नरिष्यत, करूष शर्याति, पृषध्र तथा नाभाग नामक अत्यन्त बलशाली एवं दिव्यमानुष शरीरवाले दश पुत्र थे। इनमें ज्येष्ठ पुत्र इल को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर वे तपस्या करने के लिए वन में चले गये। इधर राजा इल दिग्विजय की इच्छा से सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल में विचरण करने लगा। दिग्विजय-प्रसङ्ग में राजा अश्वारूढ़ होकर अपनी सेना से दूर होकर 'शरवन' नामक एक उपवन में पहुँच गया। उस वन में भगवान् शङ्कर उमा के साथ रमण कर रहे थे। भगवान् शङ्कर की माया से उस शरवन के दश योजन परिधिमण्डल के भीतर जो भी पुरुष जीव प्रविष्ट होता था, वह अपने पुंरूप को छोड़कर स्त्रीत्व को प्राप्त हो जाता था। राजा भी उस शरवन में प्रविष्ट हुआ और अश्वसहित वह भी स्त्रीरूप को प्राप्त हो गया तथा इल से इला नाम वाला हो गया। वह इला पूर्णेन्दुवदना, पद्मपत्रायतेक्षणा तथा अतीव सुन्दररूप को प्राप्त होती हुई अपने पुरुषरूप को भूल गयी और उस वन में घूमती हुई 'मेरा पिता कौन है ? 'कौन मेरी माता है' ? 'कौन मेरा भाई है' ? 'मेरा पति कौन है' ? 'इस भूतल में अब मैं कहाँ रहूँगी' ? इस प्रकार प्रलाप करती हुई विचार करने लगी। इसी बीच चन्द्रपुत्र 'बुध' ने उस वरवर्णिनी इला को देखा। दण्ड-कमण्डलु धारण

---

१. मत्स्य पु० 155/12-37.

किए हुए तथा कर्णकुण्डल पहने हुए यज्ञोपवीती द्विजरूप बुध ने कामपीड़ित होकर उससे कहा—अरे सुश्रोणि! तुम कहाँ जा रही हो, किस कारण से क्लान्त तथा दिग्भ्रान्त हो, यह तुम्हारे विहार करने का समय है, अतः मेरे घर को अलङ्कृत करो। उसके स्नेहयुक्त तथा मोहक वचनों को सुनकर इला ने कहा—हे तपोधन! मुझे इस समय कुछ भी ज्ञात नहीं है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आयी हूँ और कहाँ जा रही हूँ। मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। अतः आप ही इस विषय में कुछ बतायें। तब बुध ने कहा--अयि वरवर्णिनि! मैं बहुत विद्याओं का ज्ञाता बुध हूँ। तेजस्वियों के कुल में उत्पन्न ब्राह्मणों के अधिपति चन्द्रमा मेरे पिता हैं। इला ने उचित पात्र तथा उचित समय जानकर बुध के साथ रत्नों से अलङ्कृत, उसके अद्वितीय महल में प्रवेश किया। वहाँ का वैभव, रूपलावण्य देखकर तथा उत्तम कुल जानकर अपने को धन्य मानती हुई इला ने बहुत काल तक बुध के साथ रमण किया।

इधर अपने ज्येष्ठभ्राता 'इल' को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इक्ष्वाकु आदि उस शरवन के पास पहुँचे, किन्तु राजा इल के अश्व को स्त्रीरूप में देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये और कैसे यह सब हो गया? यह जानने के लिए महर्षि वशिष्ठ के पास गये। उन्होंने शंकरजी का वृत्तान्त बताया और कहा कि उन्हीं की माया से इस शरवन में जो पुरुष प्रविष्ट होता है, वह स्त्री-रूप को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए यह अश्व स्त्रीरूप को प्राप्त हुआ है तथा इल भी इला होकर बुध के भवन में है; किन्तु आप लोग शंकर की आराधना से पुनः उनका पुंस्त्व प्राप्त कर सकते हैं। वशिष्ठजी द्वारा बताये गये उपाय से इक्ष्वाकु के अश्वमेध यज्ञ करने के बाद इल किम्पुरुष हो गया। तदनन्तर वह एक महीने पुरुष तथा दूसरे महीने इला रहने लगा। बुध के साथ रमण करने से इला को पुरुरवा नामक रूपवान् एक पुत्र प्राप्त हुआ। आगे चलकर पुरुरवा तथा उर्वशी के संयोग से ही चन्द्रवंश की वृद्धि हुई[1]।

---

१. मत्स्य पु० 11/40-66 12/1-25.

५. ऊर्व का आख्यान

ऊर्व नामक एक परम तेजस्वी ऋषि थे, जिन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर दीर्घकाल तक कठिन तपस्या की थी। मुनियों के कहे जाने पर अनपत्यता से खिन्न होकर उन्होंने कुश से अपनी जाँघ में अग्नि रखकर तथा मथते हुए और्व नामक (अग्नि) पुत्र उत्पन्न किया। जो उत्पन्न होते ही मधुरवाणी में पिता ऊर्व से कहने लगा—हे तात ! मुझे भूख पीड़ित कर रही है, जगत् के भक्षणार्थ मुझे छोड़िए। उस और्वानिल की ज्वालाएँ आकाश तक फैलकर दशों दिशाओं को जलाने लगीं। इसी बीच ब्रह्मा ने उसका उपद्रव देखकर ऊर्व से अपने पुत्र और्व नामक अग्नि को बढ़ने से रोकने के लिए कहा। ऊर्व ने कहा—हे भगवन् ! इसके लिए आप स्थान निर्धारित कीजिए कि यह कहाँ रहेगा तथा इसका भोजन क्या होगा ? तब ब्रह्मा ने समुद्र में बड़वामुख में उसे स्थान दिया और भोजनार्थ जल दिया। देवासुर संग्राम में मयासुर ने इस और्वमाया का प्रयोग कर देवसेना को भस्म करना प्रारम्भ किया, किन्तु इन्द्र से आदेश पाकर सोम तथा वरुण ने इसे शान्त किया। ऋषि ऊर्व हिरण्यकशिपु के गुरु थे। उसने भी और्वमाया का प्रयोग उनसे सीखा था[1]।

६. कचोपाख्यान

कच देवगुरु बृहस्पति का ज्येष्ठ पुत्र था। बृहस्पति देवताओं के गुरु थे और शुक्राचार्य राक्षसों के। दोनों में वैमनस्य था। एक बार ऐश्वर्य के लिए देवों तथा दानवों में घनघोर युद्ध हुआ। दैत्यगुरु 'सञ्जीविनी-विद्या' के ज्ञाता थे, अतः वे युद्ध में मरे हुए दानवों को पुनः जीवित कर लेते थे; किन्तु देवगुरु बृहस्पति को यह विद्या ज्ञात न थी। अतः देवसेना का विनाश होता जा रहा था। तब देवताओं ने बृहस्पति के पुत्र कच को संजीविनी-विद्या प्राप्त करने के लिए शुक्राचार्य के पास भेजा और कहा कि हे कच ! तुम शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को प्रसन्न कर सको तो इस विद्या को अवश्य सीख लोगे।

देवों के द्वारा प्रेषित कच दैत्यराज बृषपर्वा के नगर में रहनेवाले

१. मत्स्य पु० 174/23-71.

शुक्राचार्य के पास गया और अपना परिचय देने के अनन्तर कहा कि मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ, आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। मैं ब्रह्मचारी रहकर आपसे विद्या सीखूँगा। तब शुक्राचार्य ने कहा—हे कच! तुम्हारा स्वागत है, मैं तुम्हारे वचनों को स्वीकार करता हूँ। कच ने गुरु के आदेशानुसार बड़ी लगन से पाँच सौ वर्षों तक नियमपूर्वक अध्ययन किया। कच के सौन्दर्य को देखकर शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी कच पर आसक्त हो गयी। असुरों को जब कच के आगमन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात हुआ, तो उन्होंने गाय चराने वन में गये कच को मार डाला; किन्तु सायंकाल जब कच वापस नहीं लौटा तो देवयानी ने अपने पिता से कच के विषय में चिन्ता प्रकट की। तब शुक्राचार्य ने अपनी 'सञ्जीविनी-विद्या' के प्रभाव से कच को जीवित कर दिया।

एक दिन कच देवयानी द्वारा निर्दिष्ट होकर जब वन में फल तोड़ने गया तो राक्षसों ने कच को जलाकर भस्म कर दिया और उस राख को मदिरा में मिलाकर छल से शुक्राचार्य को पिला दिया। देवयानी ने पुनः अपने पिता से कहा–हे तात! मैंने पुष्पावचय के लिए कच को भेजा था; किन्तु वह वापस नहीं आया। ज्ञात होता है कि उसे फिर मार दिया गया है। हे तात! मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ।

देवयानी के इतना कहने पर शुक्राचार्य ने कहा—हे वत्से! राक्षसगण मुझसे व्यर्थ ही द्वेष बनाए रखते हैं और मेरे शिष्यों को क्लेश पहुँचाते हैं। दुःखित होते हुए उन्होंने कच को पुकारा तो कच उन्हीं के उदर में स्थित बोला—हे ब्रह्मन्! मुझे राक्षसों ने मारकर जला दिया था और मेरी राख को मदिरा के साथ आपको पिला दिया है।

इस वृत्तान्त को सुनकर शुक्राचार्य ने देवयानी से कहा—हे वत्से! कच मेरे उदर में है और मेरी मृत्यु के अनन्तर ही वह बाहर निकल सकता है। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए, यह निर्णय तुम ही करो। पिता के वचन को सुनकर देवयानी ने कहा—हे तात! कच का नाश और आपका उपघात ये दोनों बातें मुझे शोकाग्नि में जला रही हैं। कच के नाश हो जाने पर मेरा भी नाश हो जाएगा और यदि आपका उपघात होता है तो भी मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ।

तब शुक्राचार्य ने उदरस्थ कच को शीघ्र ही 'सञ्जीविनी-विद्या' का मन्त्र सिखा दिया। तब कच कुक्षि को फाड़ते हुए बाहर निकला और उसने सीखी विद्या के बल से पुनः गुरु को जीवित कर दिया।

मन्त्र सिद्ध हो जाने से कच ने वापस देवलोक जाने की इच्छा प्रकट की; किन्तु देवयानी ने कच के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। कच ने गुरु-कन्या से विवाह का अनौचित्य बताते हुए देवयानी के दुराग्रह को अस्वीकार कर दिया। तब क्रोधित हो देवयानी ने शाप दिया कि 'हे कच! तुम्हारी यह सीखी हुई 'सञ्जीविनी-विद्या' फलवती नहीं होगी। कच ने भी उसे किसी ब्राह्मण-पुत्र से विवाह न होने का शाप दे दिया और कहा कि हे देवयानी! तुम्हारे शाप से यह विद्या मेरे लिए तो सफल नहीं होगी; किन्तु यदि मैं इस विद्या को किसी अन्य को सिखा दूँगा तो यह अवश्य ही फलीभूत होगी। इतना कहकर कच देवलोक को चला गया। कच को आते हुए देखकर इन्द्रादि देव अपना कार्य सिद्ध हुआ जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब कच ने उस विद्या को देवगणों को सिखा दिया[१]।

७. कक्षीवान्-आख्यान

पुरुवंश में सुतपा का पुत्र बलि नामक एक राजा था। इनकी पत्नी का नाम सुदेष्णा था। राजा बलि ने दीर्घतमा नामक महर्षि से अपनी रानी सुदेष्णा से रमण कर के क्षेत्रज पुत्रों को प्राप्त कराने की प्रार्थना की; किन्तु सुदेष्णा ने दीर्घतमा को अन्धा तथा वृद्ध देखकर स्वीकार नहीं किया और अपनी एक अनुचरी शूद्रा को महर्षि की सेवा में प्रस्तुत किया।

शूद्रा के साथ अभिरमण से कक्षीवान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने उसे दासीपुत्र जानकर पुत्ररूप में ग्रहण नहीं किया। तब कक्षीवान् ने गिरिव्रज नामक वन में जाकर पिता दीर्घतमा के साथ दीर्घकाल तक तपस्या करके मातृज शरीर (शूद्रत्व) को छोड़कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। तब उस धर्मज्ञ ब्राह्मण को राजा बलि ने पुत्ररूप में स्वीकार किया[२]।

१. मत्स्य पु० 26/8-66/26/1-24.
२. मत्स्य पु० /48/60-66, 84-88.

८. कार्तवीर्यार्जुन-आख्यान

कार्तवीर्य हैहयवंशी एक राजा था, जिसकी राजधानी माहिष्मती थी। सहस्रबाहु, हैहय, सहस्राजुर्न तथा अजुर्न आदि इनके अपर नाम थे। कार्तवीर्य ने दस हजार वर्ष तक उग्र तपस्या कर भगवान् दत्तात्रेय की अराधना की। उनकी कृपा से इसे चार वर मिले—प्रथम में इनको एक हजार भुजाएँ, द्वितीय में अधर्म में रत मनुष्यों का सज्जनों द्वारा निराकरण, तृतीय में सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर धर्मपूर्वक उसका पालन और चतुर्थ में युद्ध में किसी बली से वध होना--ये चार वर प्राप्त हुए। पचासी हजार वर्षों तक विधिपूर्वक राज्य करते हुए कार्त्तवीर्य ने सातों द्वीपों में अनेकों यज्ञ किये। इन्होंने करकोटक के पुत्र को हराया और नर्मदा-तट पर राज्य स्थापित किया। पाताल के असुर इनसे डरते थे।

एक बार सहस्रबाहु कार्त्तवीर्य तथा रावण में युद्ध हुआ। रावण पराजित हो गया और कार्तवीर्य ने उसे माहिष्मती में बन्दी बना लिया। बाद में रावण के पितामह पुलस्त्य ने उन्हें प्रसन्न कर रावण को छुड़ा लिया।

कार्त्तवीर्य को सूर्य से तेजोमय पाँच बाण प्राप्त थे, जिनके द्वारा इसने आपव मुनि के आश्रम को जला डाला था। मुनि आपव जल में बीस वर्षों से तपस्या कर रहे थे। तपस्या की पूर्णता पर उन्होंने देखा कि कार्त्तवीर्य ने तेजयुक्त पाँच बाणों से हेमतालवन में स्थित उनके आश्रम को जला डाला है। तब उन्होंने कुपित होकर कार्त्तवीर्य को शाप दे दिया कि हे हैहय! तुम्हारे इस दुष्कर्म के परिणामस्वरूप तपस्वी ब्राह्मण परशुराम तुम्हारी हजार भुजाओं को काटकर तुम्हारा वध करेंगे।

आपव मुनि के शाप से परशुराम ने युद्ध में कार्त्तवीर्य के हजार भुजाओं को काट डाला और उसका वध कर दिया[१]।

९. कालनेमि-आख्यान

कालनेमि तारकासुर के सेनानियों में एक सेनानी था। देवासुर-संग्राम में देवों द्वारा जम्भ-कुजम्भादि बड़े-बड़े सेनानियों के मार दिये जाने पर

१. मत्स्य पु०/43/92-52 54/9-13.

इसने भयभीत असुरसेना को युद्ध के लिए उद्बोधित किया और स्वयं दानवी माया से अपने शरीर को फैलाकर चारों दिशाओं में व्याप्त कर लिया। सूर्य के समान दीप्तियुक्त इसके शरीर से तीव्र अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगीं। क्रोधित होकर इसने किसी को सुतीक्ष्ण खड्ग से, किसी को नाराचों की वर्षा से, किसी को गदाओं से तथा किसी को परश्वधों से मारना प्रारम्भ किया। क्षणभर में इसने दश लाख गन्धर्वों, पांच लाख यक्षों, तीन लाख किन्नरों तथा सहस्रों सुर-सैन्यों को मार गिराया। उसके इस संहार को देखकर कुपित अश्विनीकुमारों ने साठ-साठ बाणों से एक साथ इसके मर्मस्थल पर आघात किया, किन्तु इसने कालदण्ड के समान भोषण मुद्गर से अश्विनीकुमारों पर चोट की। अश्विनीकुमारों के वज्रास्त्र को इसने नारायणास्त्र से शान्त कर दिया। बज्रास्त्र के विफल हो जाने पर अश्विनीकुमार युद्ध से पलायित होकर इन्द्र के पास पहुँचे। कालनेमि उन्हीं का पीछा करता हुआ इन्द्रलोक पहुँचा और इन्द्र को पराजित कर दिया। तदनन्तर भगवान् विष्णु से इसका घनघोर युद्ध हुआ। कालनेमि ने अग्नि के समान प्रज्वलित तीन बाणों से भगवान् के हृदय-स्थल पर प्रहार किया। भगवान् ने मुद्गर तथा पाश से इसे संज्ञाविहीन-सा कर दिया। किन्तु दूसरे ही क्षण इसने शक्ति नामक अस्त्र से उनके बाएँ हाथ पर प्रहार किया। तब कुपित होकर विष्णु ने धनुष को हाथ में लेकर सत्रह नाराचों को एक साथ इसके हृदय, रथ तथा सारथी पर छोड़ा। पीड़ा से आकुलित मन वाला कालनेमि पलायित होने लगा, किन्तु विष्णु ने गदा से इसके रथ पर तीव्र चोट की। भग्नरथ वाले कालनेमि को देखकर हँसते हुए भगवान् विष्णु ने कहा —हे असुर ! जाओ इस समय तो मैंने तुम्हें छोड़ दिया है, किन्तु शीघ्र ही मैं तुम्हारा अन्त करने वाला हूँ। तब सारथी रथसहित कालनेमि को युद्धस्थल से अन्यत्र ले गया।

महाबली कालनेमि के अन्यत्र चले जाने पर वरुण, सोम, वायु, अग्नि तथा इन्द्रादिक देवों ने पुनः असुर-सेना को विचलित कर दिया। भयभीत दानवों को इसने पुनः समरोद्योग के लिए उद्यत किया और संज्ञायुक्त होकर अपने शरीर को चार भागों में बांटकर सब लोकपालों की समृद्धि तथा सामर्थ्य हरण करता हुआ भीषण युद्ध करने लगा। सोम-पत्नी का

हरण कर लिया, भास्कर को अपने मार्ग से विचलित कर दिया, वायु के वेग को जीत लिया, सभी नदियों तथा समुद्रों के जल को आत्मसात् कर लिया। तदनन्तर उन्मत्त कालनेमि अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी विष्णु को मारने की दृष्टि से दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा और दोनों में घनघोर युद्ध होने लगा।

दीर्घकाल तक घात-प्रतिघात के अनन्तर अन्त में भगवान् विष्णु ने चक्र से कालनेमि का शिरश्च्छेद कर दिया। इसको मरा जानकर प्रसन्न हुए सभी देवगण भगवान् जनार्दन की स्तुति करने लगे[1]।

१०. तारक-आख्यान

तारक वज्राङ्ग का पुत्र एक असुर था। वज्राङ्ग तथा उसकी पत्नी वराङ्गी ने पुत्र-प्राप्ति के लिए हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या की। प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने तारक नामक एक महाबली पुत्र-प्राप्ति का वर दिया। सहस्रवर्ष पर्यन्त वाराङ्गी ने गर्भ धारण किया और अन्त में उसे तारक नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। तारकासुर के उत्पन्न होते ही सारी पृथ्वी, पहाड़, समुद्र चलायमान हो उठे। दैत्यगण प्रसन्न हो गये; किन्तु इन्द्रादि देव दुःखी हुए। असुरों ने हर्षित होकर तारक को राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया। असुरराज तारक ने उनसे कहा—हे असुरो ! देवताओं से हमलोगों का जातिगत वैर है; किन्तु बिना तपस्या के हम लोग उन पर विजय नहीं पा सकते। अतः सर्वप्रथम मैं तपस्या का उद्योग करता हूँ। दैत्यराज तारक के ऐसे वचनों को सुनकर दैत्यगण आश्चर्यचकित होते हुए 'साधु'–'साधु' कहने लगे।

तारक ने पारियात्र पर्वत की एक गुहा में जाकर तपस्या प्रारम्भ कर दी। निराहार रहकर केवल पत्तों तथा जल का आश्रय लेकर पञ्चाग्नि का सेवन किया। फिर प्रत्येक दिन अपने शरीर के मांस को थोड़ा-थोड़ा अग्नि में छोड़ा। इस प्रकार वह मांसरहित हो गया। उसकी इस कठिन

---

१. मत्स्य पु० 147/42-44,52, 149/140-243. 175/47-57. 176-177/1-50.

तपस्या को देखकर सभी देवगण भय खाने लगे। उसकी साधना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसके समीप जाकर अभीष्ट फल माँगने के लिए कहा। तब तारक ने प्रणाम कर उनसे कहा—ब्रह्मन्! जातिधर्म से देवताओं के साथ हम असुरों का वैर है और उन्होंने असुरों का विनाश कर दिया है, अतः उन सबका मैं उद्धारक बनूँ और मैं सर्वाधिक बलशाली तथा अवध्य होऊँ, यह वर मुझे दीजिए। तब ब्रह्माजी ने कहा—हे दैत्यसत्तम! शरीर पाकर तो मृत्यु होना निश्चित है, हाँ यह हो सकता है कि तुम जिससे अपनी मृत्यु चाहो, उसी से मारे जा सकोगे। उसके अतिरिक्त और कोई तुम्हें नहीं मार सकेगा। तारक ने सोचते हुए कहा यदि ऐसी बात है तो, सात दिन के शिशु द्वारा मैं मारा जाऊँ। ब्रह्मा 'तथास्तु' कहकर ब्रह्म-लोक को चले गए और वह असुरराज भी अपने घर वापस लौट आया।

तदनन्तर तारकासुर ने देवों पर विजय प्राप्त करने के लिए असुरों को आठ चक्रवाले विशाल रथ बनाने का आदेश दिया। तब असुरों ने एक सुन्दर रथ का निर्माण किया। उसकी सेना में जम्भ, कुजम्भ, महिष, कुञ्जर, मेघ, कालनेमि, निमि, मथन, जम्भक तथा शुम्भ नामक दश पराक्रमी सेनानायक थे। सेनामें दश करोड़ दैत्य थे, जो विविध अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। इस प्रकार बहुत बड़ी सेना लेकर तारका-सुर ने देवलोक को प्रस्थान किया।

देवदूत वायु ने इन्द्र को युद्ध के लिए उद्यत असुर सेना की सूचना दी। इन्द्र ने बृहस्पति से परामर्श किया। बृहस्पति ने दण्डनीति का आश्रय लेने को कहा। तब देवराज इन्द्र ने देवगणों को समरोद्योग के लिए प्रेरित किया। तब दोनों सेनाओं के मध्य अति भयङ्कर युद्ध होने लगा। जम्भ आदि बड़े-बड़े असुरों के मार दिए जाने पर क्रोधित होकर तारकासुर अपने जैत्र नामक रथ में आरूढ़ होकर देव-सेना के सामने आया। एक तरफ वह अकेला था दूसरी तरफ सारी देवसेना। तब बाणों की वर्षा होने लगी। उसने अकेले ही एक सौ बाणों से इन्द्र को, सत्तर बाणों से विष्णु को, नब्बे से अग्नि को, दश से यम को, इसी प्रकार कुबेर, वरुण, मातलि, गरुड़ आदि को एक ही साथ मारना प्रारम्भ कर दिया। पुनः इन्द्र तथा विष्णु के साथ उसका भीषण युद्ध हुआ। तब क्रुद्ध भगवान् विष्णु ने चक्र से उसके

वक्षस्थल पर प्रहार किया। जिसके कारण उसके वक्षस्थल से एक चमकती हुई अग्नि की ज्वाला प्रकट हो गयी। जब देवों के अस्त्र-शस्त्र उस पर प्रभावशून्य होने लगे, तो देवसेना में भय छा गया और वे समरविमुख होने लगे। देवसेना को समरविमुख और पलायित होते देख कर तारक दिति-पुत्रों से स्तूयमान होकर देवलोक में जाकर वहाँ के सुखों का भोग करने लगा।

तब देवता लोग भयभीत होकर ब्रह्मा की शरण में गये। तब ब्रह्मा ने देवताओं को बताया यह तारकासुर देवताओं तथा राक्षसों से अवध्य है, जिससे इसका वध होना है, वह अभी इस त्रिभुवन में पैदा ही नहीं हुआ है। इसने तपस्या के परिणामस्वरूप मुझसे यह वर प्राप्त किया है कि मैं केवल सात दिनों वाले 'कुमार' से ही मारा जाऊँ और वह कुमार अन्य कोई नहीं भगवान् शङ्कर का पुत्र कार्त्तिकेय होगा, जो इसका वध करेगा। किन्तु भगवान् शङ्कर पत्नीरहित हैं, हिमाचल-दुहिता पार्वती के साथ उनका विवाह होगा, उनका पुत्र कार्त्तिकेय ही इस तारकासुर को मारेगा। अतः आप लोग. कुछ समय तक प्रतीक्षा करें। ब्रह्मा के इस प्रकार के आश्वासन से प्रसन्न होकर देवगण वापस चले गये।

कालान्तर में कुमार-कार्त्तिकेय के उत्पन्न होने पर सभी देवता लोग उनकी स्तुति करने लगे और उन्हें तारकासुर के अत्याचारों को अवगत कराया। केवल सात दिन के कुमार तारक के पास गए। कुमार को सामने देखकर भीषण आकृतिवाला तारक बोला—तुम बालक हो, तुम्हारी अवस्था गेंद खेलने की है, क्या तुम संग्राम में भयानक दैत्यों से युद्ध करने आये हो। ऐसा सुनकर कुमार ने कहा– तुम मुझे बालक मत समझो। मैं कालरूप सर्प हूँ। हे दैत्य! अब तुम्हारा अन्त-समय आ गया है।

कुमार के इतना कहते ही अपमानित होते हुए दैत्य तारक ने मुद्गर से उस पर प्रहार किया; किन्तु कुमार ने वज्र के द्वारा उसे विफल बना दिया। तब तारक ने लोहे से बने भिन्दिपाल को छोड़ा, परन्तु कुमार ने हाथ से पकड़ लिया। इसी प्रकार बहुत समय तक युद्ध होता रहा। अन्त में कुमार ने अपने शक्ति नामक अस्त्र से उस दैत्य के हृदय का भेदन कर

दिया, जिससे वह पृथ्वी पर गिर कर मर गया। दैत्यराज के मरते ही सारी असुरसेना पलायित हो गई। देवताओं ने स्वर्गलोक में जाकर अनेक उत्सव मनाये और कुमार स्कन्द की स्तुति की[1]।

११. दीर्घतमस्-आख्यान

प्राचीनकाल में उशिज् नाम के एक विद्वान् ऋषि थे। इनकी पत्नी का नाम ममता तथा छोटे भाई का नाम बृहस्पति था। बृहस्पति ने गर्भवती ममता के साथ बलपूर्वक मैथुन करना चाहा; किन्तु गर्भस्थ बालक ने बृहस्पति से कहा—हे तात! आप वीर्यत्याग मत कीजिए। यहाँ दो बालकों का स्थान सम्भव नहीं है। मैं आपके ज्येष्ठ भाई उशिज् का पुत्र गर्भ में पहले से ही स्थित हूँ। गर्भस्थ बालक के निषेध से क्रुद्ध वृहस्पति ने उसे जन्मान्ध होने का शाप दिया और कहा कि तुम दीर्घकाल तक तम से युक्त रहोगे। शाप के परिणामस्वरूप बालक का दीर्घतमा नाम पड़ गया।

एक बार जब दीर्घतमा अपने आश्रम में तपस्या कर रहे थे, सौरभेय नामक वृषभ ने यज्ञानुष्ठान के निमित्त रखे हुए कुशों को खा डाला। बन्धन में ग्रस्त वृषभ ने कुपित हुए दीर्घतमा को प्रसन्न करने के लिए गो-धर्म सम्बन्धी शिक्षा दी। तब प्रसन्न होकर दीर्घतमा ने उसकी यथोचित सेवा करके विदा किया।

तदनन्तर गोधर्मानुसार दीर्घतमा को यथेच्छ अभिरमण की इच्छा हुई। उसने वृषभरूप धारणकर गौतम की यवीयसी स्त्री से रमण करना चाहा, किन्तु उसने इसके दुर्विचार को जानकर भर्त्सना करते हुए गङ्गा जी में फेंक दिया।

प्रवाहित होते हुए दीर्घतमा को सुतपा के पुत्र पुरुवंशी राजा बलि ने बचाया और उसे ब्राह्मण समझकर इनसे अपनी पत्नी सुदेष्णा में धर्मार्थतत्त्वज्ञ क्षेत्रज पुत्रों को उत्पन्न करने की प्रार्थना की। राजा बलि

---

१. मत्स्य पु०, 146-147, 152/161-228 153/1-55, 158/1-43, 159/1-33/

ने दीर्घतमा को अपनी स्त्री सुदेष्णा के पास भेजा, किन्तु सुदेष्णा ने इन्हें वृद्ध तथा अन्धा देखकर अपनी एक शूद्रा अनुचरी को समर्पित किया। उसके साथ रमण करने से कक्षीवान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा को इस वृत्तान्त की जानकारी हुई, तो उसने अपनी रानी सुदेष्णा की भर्त्सना कर पुनः महर्षि दीर्घतमा के पास भेजा। दीर्घतमा ने कहा—हे देवि! यदि तुम मधु, दधि तथा लवणादि के लेप से लेपित मेरे गुह्येन्द्रिय का पान करोगी तो मनोभिलषित पुत्रों को प्राप्त करोगी; किन्तु सुदेष्णा ने महर्षि के गुह्येन्द्रिय का पान नहीं किया। तब मुनि ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम्हारा प्रथम पुत्र उपस्थविहीन रहेगा। इस प्रकार शाप सुनकर दुःखित सुदेष्णा ने प्रार्थना कर उन्हें प्रसन्न कर लिया, तब उन्होंने कहा कि शाप तो मिथ्या नहीं हो सकता, किन्तु यह शाप तुम्हारे पुत्र पर न जाकर पौत्र पर जायेगा। तब ऋषि ने उसके कुक्षि-प्रदेश का स्पर्श कर उसे धार्मिक, तेजस्वी, तथा सुव्रती पाँच पुत्र प्राप्त करने का वर दिया।

यथोचित समय पर दीर्घतमा के आशिर्वाद से सुदेष्णा ने पाँच क्षेत्रज पुत्रों को उत्पन्न किया, जो अङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, बङ्ग तथा सुह्म नाम से विख्यात हुए। बलि के ये पुत्र बालेय भी कहलाने लगे। इनके राज्यों का नामकरण इन्हीं के नाम से हुआ।

एक दिन सौरभेय वृषभ ने प्रसन्न होकर दीर्घतमा के जरात्व-अन्धत्व को दूर कर दिया और ये गौतम कहलाने लगे। अन्त में उन्होंने गिरिव्रज में तपस्या कर मोक्षपद को प्राप्त किया[1]।

१२. देवयानी-आख्यान

देवयानी दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री थी। राजा ययाति से उसका विवाह हुआ था। देवयानी के गर्भ से यदु तथा तुर्वसु नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

एक बार देवगुरु बृहस्पति का पुत्र 'कच' दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास 'सञ्जीविनी-विद्या' सीखने के लिए आया। दैत्यों ने कच के उद्देश्य को

१. मत्स्य पु०/48/32-84.

जानकर दो बार उसका वध कर दिया। प्रथम बार तो शुक्राचार्य ने अपनी विद्या के प्रयोग से उसे जीवित कर दिया। द्वितीय बार जब दैत्यों ने कच को भस्म कर मदिरा में मिलाकर उसे शुक्राचार्य को पिला दिया तब देवयानी जो कच पर आसक्त थी, उसने पिता से कच के विषय में चिन्ता प्रकट की। शुक्राचार्य ने पुत्री के आग्रह पर उदरस्थ कच को वह विद्या सिखा दी। कच गुरु शुक्राचार्य की कुक्षि से बाहर निकला और उसने सीखी हुई विद्या के बल से शुक्राचार्य को पुनः जीवित कर दिया। देवयानी ने कच के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, किन्तु कच ने उसे गुरु-कन्या बताकर स्वीकार नहीं किया, इस पर देवयानी ने उसे शाप दिया —'तुम्हारी विद्या फलवती नहीं होगी'। तब कचने भी देवयानी को शाप दिया कि—'तुम्हारा विवाह किसी ब्राह्मण से नहीं हो पायेगा।' इसी शाप के परिणामस्वरूप देवयानी का विवाह सोमवंशी राजा ययाति से हुआ।

एक दिन इन्द्र ने दैत्यराज वृषपर्वा तथा शुक्राचार्य में वैमनस्य उत्पन्न कराने की दृष्टि से सरोवर में स्नान करती हुई देवयानी तथा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा के वस्त्रों को आपस में मिला कर वहाँ से चले गये। स्नान के अनन्तर कपड़ों की विपरीत स्थिति देखकर देवयानी और शर्मिष्ठा में तीव्र वाग्युद्ध होने लगा। तब क्रोधित होकर शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुँए में गिरा दिया और उसे मृत समझकर वापस घर आ गयी।

इसी समय राजा ययाति शिकार खेलते हुए उधर से आये और उन्होंने कुँए में गिरी देवयानी को बाहर निकाला। देवयानी ने राजा को अपना पूर्ण वृतान्त बताया। राजा ययाति अपने राज्य को लौट आये। देवयानी अपनी दासी से यह सारा समाचार अपने पिता शुक्राचार्य के पास भिजवायी। पिता के बहुत समझाने पर भी वह वापस घर जाना स्वीकार नहीं की। अन्त में देवयानी के कहने पर शुक्राचार्य वृषपर्वा के पास गये और शर्मिष्ठा के कुकृत्यों की निन्दा करते हुए उसके राज्य को छोड़ देने के लिए कहा। तब वृषपर्वा द्वारा यथेच्छ वस्तु माँगने के लिए कहने पर देवयानी यह शर्त्त रखती है कि—'शर्मिष्ठा अपनी हजार दासियों के साथ मेरी दासी के रूप में मेरे ही साथ रहेगी'। राजा ने शर्त्त को

स्वीकार कर लिया और शर्मिष्ठा दासियों के साथ सेविकारूप में देवयानी के पास रहने लगी।

एक दिन जब देवयानी अपनी सेविका शर्मिष्ठा के साथ वन में विहार कर रही थी, राजा ययाति शिकार खेलते हुए उस स्थान पर पहुँचे। देवयानी ने अपना तो वास्तविक, किन्तु शर्मिष्ठा का अपनी दासी के रूप में परिचय दिया। राजा ययाति पर आसक्त होकर देवयानी ने विवाह का प्रस्ताव राजा के सम्मुख रखा, किन्तु राजा ने उसे ब्राह्मण-कन्या समझकर विवाह का अनौचित्य बताया। किन्तु देवयानी के पिता शुक्राचार्य की अनुज्ञा पर ययाति ने उसका पाणि-ग्रहण कर लिया और देवयानी ने शर्मिष्ठा सहित हजार दासियों को लेकर राजा के साथ प्रस्थान किया। अपने पुर में प्रवेश कर राजा ने देवयानी को अन्तःपुर में रखा और हजार दासियों सहित शर्मिष्ठा को अशोक वन में एक भवन में रखा। कालान्तर में देवयानी के यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ समय पश्चात् युवती शर्मिष्ठा ने राजा के साथ संसर्ग किया और शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुघ्युनु-अनु तथा पुरु नामक तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई। यह समाचार जानकर अपमानित तथा क्रोधित होती हुई देवयानी पिता शुक्राचार्य के पास गयी और उनसे सारा समाचार बताया। तब शुक्राचार्य ने राजा ययाति को असमय में ही बुढ़ापा प्राप्त करने का शाप दे दिया; किन्तु ययाति की प्रार्थना पर उन्होंने कहा—यदि कोई तुम्हारा बुढ़ापा ले लेगा तो तुम फिर युवा हो जाओगे। देवयानी के पुत्रों ने बुढ़ापा लेने से इन्कार कर दिया किन्तु शर्मिष्ठा के सबसे छोटे पुत्र पुरु ने पिता की आज्ञा को स्वीकार कर अपनी जवानी पिता को दे दी और उनका बुढ़ापा स्वयं ले लिया[1]।

१३. निमितथा वशिष्ठ का आख्यान

राजा निमि के कुल पुरोहित महर्षि वशिष्ठ थे। निमि धार्मिक तथा सदाचारी था। वह नित्य यज्ञ इत्यादि कराया करता था। एक बार निमि वशिष्ठ के पासगया और कहने लगा—भगवन्! मैं एक दीर्घकाल तक

१. मत्स्य पु० अ० 25-33.

चलनेवाला यज्ञानुष्ठान करना चाहता हूँ, अतः आप आचार्यरूप से यज्ञ को सम्पन्न करायें। महर्षि ने कहा--हे राजन् ! मैं परिश्रान्त हूँ, अतः कुछ समय प्रतीक्षा करें। तदनन्तर मैं निश्चित ही यज्ञ कराऊँगा। तब राजा निमि ने कहा--लौकिक कार्यों के सम्पादन के लिए तो प्रतीक्षा की जा सकती है, परन्तु यज्ञ-यागादि ऐसे पारलौकिक कार्यों के लिए विलम्ब करना ठीक नहीं। धर्म के कामों को सर्वप्रथम करना चाहिए, क्योंकि जीवन तो बहुत थोड़ा है। मृत्यु किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। यदि आप यज्ञ नहीं करायेंगे तो मैं किसी दूसरे से यज्ञ कराऊँगा। तब महर्षि वशिष्ठ ने कहा—राजन् ! मेरी उपेक्षा करके तुम किसी अन्य से यज्ञ करवाने के लिए उद्यत हो, अतः तुम मेरे शाप से 'विदेह' हो जाओगे। निमि ने भी कहा—धर्मकार्य में रत मुझे आप रोक रहे हैं और न किसी दूसरे से ही यह कार्य करवाने की इच्छा रख रहे हैं, तथापि आपने मुझे 'विदेह' हो जाने का शाप दे दिया है, अतः आप भी मेरे शाप से 'विदेह' हो जायेंगे।

दोनों देहहीन होकर ब्रह्मा के पास गए। निमि से ब्रह्मा ने कहा कि आज से तुम्हें सारे प्राणियों के नेत्रों की पलकों पर स्थान देता हूँ। तभी से पलक गिराने का नाम निमेष हुआ और वशिष्ठ से कहा--तुम मित्रावरुण के पुत्र बनोगे, तब भी तुम्हारा 'वशिष्ठ' यही नाम रहेगा और तुम्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण रहेगा।

एक बार बदरिकाश्रम में मित्रावरुण तपस्या कर रहे थे। अप्सरा उर्वशी पुष्पोद्यान से फूल चुन रही थी। उसके मनोरम सौन्दर्य को देखकर मित्रावरुण का धैर्य जाता रहा और उनका वीर्य मृगासन पर ही स्खलित हो गया। ऋषियों के शाप के भय से उन्होंने स्खलित वीर्य को जल से पूर्ण कलश में छोड़ दिया। कुछ समय बाद इसी से तेजस्वी वशिष्ठ तथा अगस्त्य का जन्म हुआ। वशिष्ठ का विवाह नारद मुनि की बहिन अरुन्धती के साथ हुआ, जिनके शक्ति आदि सौ पुत्र थे। शक्ति के पुत्र पराशर हुए, जिनसे पराशर गोत्र चला[1]।

---

१. मत्स्यपु० 200/1-30.

१४. पुरूरवा-आख्यान

चन्द्रपुत्र बुध तथा इला के संयोग से पुरूरवा नामक एक चक्रवर्ती राजा हुआ। उन्होंने भगवान् विष्णु की कृपा से सप्तद्वीपा वसुमती का आधिपत्य तथा देवराज इन्द्र का अर्द्धासन प्राप्त किया। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करने के कारण अर्थ तथा काम इनसे असन्तुष्ट रहते थे, जिससे उन्होंने इन्हें शाप दे दिया। अर्थ ने कहा---हे राजन् ! लोभ के वशीभूत होकर आपका अनिष्ट हो जायेगा और काम ने कहा--जब तुम गन्धमादन पर्वत पर होगे उस समय कुमारवन में 'उर्वशी' के साथ तुम्हारा वियोग हो जाएगा।

राजा की कीर्त्ति देवलोक तक फैली हुई थी। इन्द्र से मित्रता होने के कारण राजा पुरूरवा प्रत्येक दिन इन्द्र से मिलने के लिए अमरावती जाते थे। एक बार वे अपने दिव्य रथ में आरूढ़ होकर देवलोक जा रहे थे। आकाश मार्ग में उन्होंने दुष्ट राक्षस केशी द्वारा अपहरण की जाती हुई उर्वशी तथा चित्रलेखा नामक अप्सराओं को देखा। कुपित होकर राजा ने केशी को मारकर उर्वशी तथा चित्रलेखा को पुनः इन्द्र को सौंप दिया। तब से इनकी मित्रता इन्द्र से और अधिक घनिष्ट हो गयी।

द्विजग्राम में इन्हें आचार्य भरत से 'नाट्यविद्या' प्राप्त हुई। एक बार आचार्य भरत ने इन्द्र की सभा में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक अभिनय का आयोजन किया। उस उत्सव में आचार्य भरत ने देवराज इन्द्र तथा पुरूरवा के समक्ष मेनका, उर्वशी तथा रंभा को भी नायिकारूप में अभिनय करने के लिए प्रेरित किया। लक्ष्मी का अभिनय करती हुई उर्वशी राजा पुरूरवा को देखकर कामासक्त होती हुई अपना अभिनय भी भूल गयी, राजा भी उसे देख मोहित हो गये। दोनों को आत्म-विस्मृत होते देखकर आचार्य भरत ने क्रोधित होकर शाप दे दिया--अरे उर्वशी ! पृथ्वी पर तुम्हारा राजा पुरूरवा से पचपन वर्षों तक वियोग रहेगा और तुम लता के रूप में रहोगी। उस अवधि में पुरूरवा भी पिशाचयोनि को प्राप्त हो जायगा।

शाप की अवधि समाप्त हो जाने पर पुनः पुरूरवा तथा उर्वशी का मिलन हुआ। राजा को उर्वशी के गर्भ से आयु-दृढ़ायु-अश्वायु-धनायु-धृतिमान्-वसु-शुचिविद्य तथा शतायु नामक दिव्य बलशाली आठ पुत्र प्राप्त हुए[1]।

१५. पुरूरवा के पूर्वजन्मों का आख्यान

पुरूरवा अपने प्रथम जन्म में द्विजग्राम में निवास करने वाला एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था। वह उस समय भी पुरूरवा नाम से विख्यात था। ब्राह्मण पुरूरवा ने राज्य-प्राप्त करने की इच्छा से बहुत समय तक विभूति द्वादशी को व्रत-उपवास रखते हुए भगवान् जनार्दन की उपासना की। इस व्रत में एकादशी के दिन निराहार रहते हुए, नारायण की पूजा तथा द्वादशी को ब्राह्मणभोजन का विधान है। इस व्रत के परिणामस्वरूप पुरूरवा दूसरे जन्म में मद्रदेश का राजा हुआ; किन्तु व्रत में त्रुटि रह जाने (उपवास के दिन अभ्यङ्ग-स्नान) से राजा होने पर भी पुरूरवा रूपहीन हुआ। रूपहीन पुरूरवा पर जनानुराग नहीं था; जिससे वह दुःखित रहता था। पुरूरवा ने रूप की प्राप्ति के लिए तपस्या का निश्चय किया और मंत्रिगणों को राजसत्ता सौंपकर वह हिमालय पर्वत पर चला गया। वहाँ राजा ने ऐरावती तथा हैमवती नदियों को देखा। उस हिमालय पर्वत में विचरण करते हुए मद्रेश्वर पुरूरवा को एक रमणीय प्रदेश में महर्षि अत्रि का आश्रम दिखाई दिया। आश्रम में प्रवेश करते ही उसे महर्षि अत्रि द्वारा निर्मित मणिमय रत्नों से बने एक विशाल देवायतन के दर्शन हुए, जिसमें सर्वालङ्कारों से भूषित चतुर्भुज भगवान् नारायण की जीवन्त प्रतिमा स्थित थी। मद्राधिपति ने नारायण को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। भगवान् के दर्शन तथा उस सुरम्य देवायतन को देखकर राजा कृतकृत्य हो उठे और उसी

१. मत्स्यपु० 24/90-34.

आश्रम के एक भाग में गुहा के अन्दर राजा ने भी भगवान् मधुसूदन की आराधना करनी प्रारम्भ कर दी। त्रिषवणस्नायी निराहार रहते हुए उसने दीर्घकाल तक तपस्या की। मद्राधिपति पुरूरवा ने वहाँ गन्धर्वों तथा अप्सराओं के क्रीड़ा-विहार का भी आनन्द लिया।

एक दिन गन्धर्व तथा अप्सराओं ने राजा से कहा—हे राजन्! स्वर्गसदृश इस प्रदेश में आप आये हैं। अतः हम आपको अभीप्सित वरों को देंगे। प्रसन्न होते हुए मद्राधिपति ने वहीं रहना स्वीकार किया। गन्धर्वों के प्रिय बने रहते हुए वह नित्य जनार्दन की पूजा करने लगा। महीना भर उपवास करते हुए राजा को फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की अन्तिम रात्रि को स्वप्न में भगवान् जनार्दन के दर्शन हुए और उनकी मधुरवाणी सुनाई दी कि प्रातः तुम्हें महर्षि अत्रि के दर्शन होंगे, जिनसे तुम मनोभिलषित फलों को प्राप्त करोगे।

स्वप्नानुसार दूसरे दिन प्रातः स्नान किए हुए तथा देवाधिदेव की पूजा किए हुए मद्रेश्वर पुरूरवा को तपोनिधि अत्रि के दर्शन हुए। उसने प्रणाम के अनन्तर स्वप्न का निवेदन किया। महर्षि के आशीर्वाद तथा भगवान् जनार्दन की कृपा से उसने मनोभिलषित रूप को प्राप्त होने का वर प्राप्त किया। तदनन्तर तृतीय जन्म में वहीं मद्राधिपति पुरूरवा सुन्दर रूपवान् एक धार्मिक राजा हुआ, जिसने उर्वशी को प्राप्त किया था[1]।

१६. पुष्पवाहन-आख्यान

रथन्तरकल्प में पुष्पवाहन नामक एक तेजस्वी राजा था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे एक स्वर्ण-कमल दिया। ब्रह्मा से प्राप्त स्वर्ण-कमलरूपी पुष्पवाहन नामक यान पर तीनों लोकों में वह अव्याहत गति से विचरण करता था। देव-दानव लोग भी इन्हें

---

१. मत्स्यपु० 114/6-19, 117/71-76. 118-119.

पुष्पवाहन नाम से जानते थे। इनकी लावण्यवती नामक एक अप्रतिम सुन्दरी पत्नी थी।

एक बार इन्होंने अभ्यागत महर्षि प्राचेतस से अपनी समृद्धि का कारण पूछा। तब महर्षि ने उसे उसकी पूर्वजन्म की कथा बतायी कि तुम पूर्वजन्म में एक व्याध थे और नित्य पाप कर्मों को किया करते थे। तुम्हारे शरीर से अनेक प्रकार की दुर्गन्धियां निकला करती थीं। तब तुम्हारे न कोई बन्धुजन थे न कोई पुत्र था और न कोई मित्र था और न कोई माता-पिता ही थे। एक दिन दुर्भिक्ष में भोजन के अभाव में जब तुम इधर-उधर घूम रहे थे, तुम्हें एक कमलों से भरा हुआ सरोवर दिखाई दिया। उन कमलों को तोड़कर तुम बेचने के उद्देश्य से वैदिशनगर में गये; किन्तु वहाँ कोई ग्राहक नहीं मिला। तब भूख तथा प्यास से व्याकुल तुम एक भवन के आंगन में थककर बैठ गये। रात्रि में तुम्हें उस भवन के अन्दर से मंगल-ध्वनि सुनाई दी। वाद्य-यन्त्रों की उस मङ्गलध्वनि को सुनकर तुम अपनी पत्नी को लेकर उस भवन में गये, जहाँ अनङ्गवती नामक एक वेश्या विभूतिद्वादशी व्रत के अनुष्ठान में भगवान् विष्णु की अर्चा में संलग्न थी। उसे देखकर तुमने सोचा कि इन कमलों से क्या प्रयोजन ? इन कमलों को भगवान् के चरणों में समर्पित करना ही श्रेष्ठ है। तब तुम दोनों ने कमलों को चढ़ाकर भगवान् की पूजा की। तुम्हारी भक्ति देखकर वेश्या ने चतुर्विध नैवेद्य प्रसाद के रूप में तुम्हें दिया; किन्तु वेश्या का उपवास जानकर तुम दोनों ने भी प्रसाद को बाद में ग्रहण करने को सोचा। इस प्रकार वेश्या का अनुकरण करने से तुम दोनों ने पूजा भी की। रात्रि-जागरण तथा उपवास भी हो गया। प्रातःकाल उस वेश्या ने पूजा कर तुम दोनों को विदा किया।

इस प्रकार असङ्कल्पित भी तुम दोनों के द्वारा विभूतिद्वादशी व्रत का अनुष्ठान हो जाने से तुम इस जन्म में अक्षीण वैभवशाली राजा हुए

हो और तुम्हारी यह पत्नी भी अत्यन्त रूपसम्पन्ना तथा धार्मिक प्रवृत्ति की हुई है। वह अनङ्गवती नामक वेश्या दूसरे जन्म में कामदेव की स्त्री हुई।

महर्षि प्राचेतस से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानकर राजा पुष्पवाहन अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और विभूतिद्वादशीव्रत का अनुष्ठान करता हुआ अन्त में विष्णुपद को प्राप्त हुआ[1]।

१७. पृथु का आख्यान

प्राचीनकाल में स्वायम्भुव मनु के वंश में अङ्ग नामक एक राजा था। मृत्यु की पुत्री सुनीथा से उनका विवाह हुआ। उससे वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राजा वेन सदा अधर्म तथा अनीति का आचरण करनेवाला था। वेन के उस प्रकार के आचरण को देखकर ब्राह्मणों ने उसे पकड़कर उसकी बायीं जंघा को मथ डाला, जिससे म्लेच्छ जाति उत्पन्न हुई। मथे जाते हुए उसके दक्षिण हाथ से धनुष-वाण-गदा लिए हुए, दिव्य तेजयुक्त शरीरवाला तथा कवच-कुण्डल और रत्नों को धारण किये हुए पृथु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। माता के अंश से वह पृथु कृष्णवर्ण का था; किन्तु पिता के अंश से धार्मिक प्रवृत्ति का हुआ।

ब्राह्मणों ने उसे राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया। विष्णु की परम् आराधना से राजा ने अतुलनीय शक्ति प्राप्त की। राजा पृथु ने समस्त पृथ्वी को धर्म-हीन देखकर कोप से युक्त होकर धनुष-वाण लेकर उसे मारना चाहा, किन्तु भयभीत होकर गोरूपा पृथ्वी भागने लगी। राजा ने भी उसका पीछा किया। अन्त में थककर पृथ्वी ने कहा—हे राजन् आप अपने हाथों से अभिलषित पदार्थों को मुझसे दूह लें। तब राजा ने गोरूपप्राप्त पृथ्वी से शुद्ध खाद्यान्नों को दुहा। ऋषियों ने सोम को प्राप्त

१. मत्स्यपु० 99/1–37.

किया। इसी प्रकार वृहस्पति-इन्द्रादिक देवों, यक्ष-नाग-गन्धर्व-किन्नरों तथा राक्षसों आदि ने उस गाय को दुहकर अनेक दिव्य पदार्थों को प्राप्त किया।

इस प्रकार राजा पृथु के राज्य में सर्वत्र धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्य छा गया। कोई निर्धन नहीं रहा। किसी को महामारी तथा दुर्भिक्ष का कोई भय नहीं था। लोग नित्य धर्मपरायण रहा करते थे। राजा पृथु के द्वारा धेनुरूप को प्राप्त पृथ्वी के दुहे जाने से ही यह मही 'पृथ्वी' इस नाम से विख्यात हुयी[1]।

१८. बलि का आख्यान

बलि प्रह्लाद का पौत्र और विरोचन का पुत्र एक प्रतापशाली दैत्य था। एकबार देवमाता अदिति ने भगवान् विष्णु की आराधना कर उन्हें अपने गर्भ से जन्म लेने का वर प्राप्त किया। यथोचित समय पर भगवान् ने अदिति के गर्भ में प्रवेश किया। उनके गर्भ में प्रवेश करते ही असुरादि सभी निस्तेज हो गए। बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद से इसका कारण पूछा। प्रह्लाद ने भगवान् का ध्यान करने के अन्तर बताया कि भगवान् अदिति के गर्भ से वामनरूप से अवतार ग्रहण करेंगे, साथ ही उनके प्रभाव एवं माहात्म्य का वर्णन किया। बलि ने कहा—हे तात ! ये हरि कौन होते हैं। मेरे विप्रचित्ति आदि महावीरों के सामने उनकी क्या गिनती है। प्रह्लाद ने बलि को धिक्कार कर शाप दिया कि शीघ्र ही तुम विभूति एवं ऐश्वर्य से हीन हो जाओगे। बलि ने अपनी भूल स्वीकार की। प्रह्लाद ने कहा---शाप तो मिथ्या नहीं हो सकता; किन्तु आज से ही तुम भगवान् की भक्ति करो, वही तुम्हारी रक्षा करेंगे।

अदिति के गर्भ से भगवान् ने जन्म लिया। उनके जन्म लेते ही सभी लोगों की बुद्धि धर्ममय हो गयी। सुखस्पर्शी वायु प्रवाहित होने

१. मत्स्यपु० 10/3-34.

लगा। ब्रह्मादि देवों ने भगवान् के जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किये। तब वामनावतार भगवान् विष्णु ने इन्द्र को त्रैलोक्य का अधिपति बनाने का संकल्प कर बलि को छलने के लिए प्रस्थान किया।

नर्मदा के उत्तरी तट पर भृगुकच्छक्षेत्र में बलि अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। वामनावतारी भगवान् जटी, दण्डी, छत्री तथा कमण्डलु से युक्त होकर बलि के यज्ञ-मण्डप के समीप पहुँचे। उनके भार से पृथ्वी विचलित होने लगी। बलि ने अपने गुरु शुक्राचार्य से इस विषय में पूछा। तब उन्होंने कहा—राजन् ! भगवान् वामनरूप धारण कर तुम्हें छलने के लिए तुम्हारे यज्ञ में आ रहे हैं। अतः तुम उन्हें कुछ देने की प्रतिज्ञा मत करना; किन्तु बलि ने गुरु की उपेक्षा कर स्वयं को धन्य मानते हुए भगवान् वामन को प्रणाम करते हुए उनका विधिवत् स्वागतकर अभीष्ट वस्तु माँगने के लिए कहा। भगवान् बोले—मुझे अग्निक्रिया सम्पन्न करने के लिए तीन पग भूमि चाहिए। भगवान् ने धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि न माँगकर केवल तीन पग भूमि माँगी है ऐसा समझकर बलि हँसने लगा। बलि ने सहर्ष स्वीकृति देते हुए तीन पग भूमि देने का संकल्प पूरा किया। संकल्प पूरा होते ही भगवान् ने विराट्रूपधारण कर दो पगों से पृथ्वी तथा आकाश को व्याप्त कर लिया और तीसरा पग रखने के लिए स्थान मांगा। हतबुद्धि बलि ने अपना मस्तक सामने झुका लिया। इसी पर श्री हरि ने उसे पाताल भेज दिया और सुतललोक का निष्कंटक राज्य प्रदान कर सावर्णिक मन्वन्तर का इन्द्र होने तथा कल्प प्रमाण की आयु प्राप्त करने का वर दिया और कहा—हे महासुर ! तुम वहाँ दिव्य भोगों का तब तक उपभोग करते रहोगे जब तक कि देव-ब्राह्मण, ऋषि-मुनियों का विरोध नहीं करोगे। ऐसा करने पर तुम पाशबद्ध हो जाओगे। भगवत्कृपा से बलि अक्षय कीर्त्ति का भागी बना। इस प्रकार बलि को अनेक वर देकर भगवान् स्वर्गलोक में आये और इन्द्र को त्रिलोकी का अधिपति बनाकर देवगणों को प्रसन्न किया[1]।

१. मत्स्यपु० 243/8-52/244-245.

१९. बाणासुर-आख्यान

बाण राजा बलि के सौ पुत्रों में सबसे वीर तथा पराक्रमी था। इसकी पत्नी का नाम अनौपम्या तथा बहिन का नाम कुम्भीनसी था। वह भगवान् शङ्कर का भक्त था।

बाण त्रिपुर का स्वामी था। मदोन्मत्त बाणासुर अपने त्रिपुर सहित देवलोक में अबाध गति से विचरण करता था। उसके भय से सम्भ्रमित देवगण, मुनि, सिद्ध-साध्य तथा गन्धर्वगण भगवान् शङ्कर की शरण में गए और अपना कष्ट उन्हें बताया। उन्होंने कहा--आप लोग दुःखी न होवें। मैं शीघ्र ही आप लोगों के कष्ट को दूर करूँगा। उन्हें आश्वासित कर भगवान् शङ्कर नर्मदा नदी के तट पर माहेश्वर नामक स्थान में गये और उस अत्याचारी दानव के बध का उपाय सोचने लगे। तब उन्होंने नारद का स्मरण किया। स्मरण करते ही नारद मुनि उनके पास आए और कहने लगे--हे महादेव ! मुझे क्यों स्मरण किया ? आप आज्ञा दीजिए, मैं सेवा के लिए तत्पर हूं। भगवान् शङ्कर ने उनसे त्रिपुर में जाकर वहाँ स्थित सभी असुरों की बुद्धि बदलने के लिए कहा। नारद मुनि शीघ्र ही त्रिपुर में गए जो शतयोजन विस्तार में फैला हुआ था। वहाँ उन्होंने मणियों से निर्मित कुण्डलहार आदि आभूषणों से अलंकृत तथा दिव्य आसन में विराजमान बलोन्मत्त दानवराज बाण को देखा। महाबली बाण ने मुनि का यथोचित स्वागत किया। बाण-पत्नी अनौपम्या ने उनसे उपवास की दीक्षा ली। नारद के प्रभाव से बाण की पतिव्रता स्त्रियों का मन डाँवाँडोल हो गया और त्रिपुर में छिद्र हो गया।

नर्मदा के किनारे माहेश्वर नामक स्थान में शंकर ने सर्वदेवमय रथ पर आरूढ़ होकर स्वयं रुद्ररूपधारण कर अन्तरिक्ष में स्थित त्रिपुर के विनाश के लिए प्रस्थान किया। अन्तरिक्ष में स्थित वह त्रिपुर उनके बाण-प्रहार से विनष्ट होने लगा तथा रुद्राग्नि से जलने लगा। सम्पूर्ण त्रिपुर में हाहाकार मच गया। स्त्रियाँ तेज-विहीन होकर बल

से रहित हो गयीं, त्रिपुरस्थ असुरों को स्वप्न में मृत्यु ही मृत्यु दिखाई देने लगी। शिवजी के कोप से उनका बल तथा बुद्धि दोनों जाती रही। तब रुद्र ने सर्वान्तक नामक वायु का प्रयोग किया। उस भीषण सर्वान्तक वायु के प्रभाव से सारा त्रिपुर दग्ध होने लगा। उस ज्वलनाग्नि से अपने बच्चों को जलता देखकर त्रिपुरस्थ स्त्रियाँ अग्नि की भर्त्सना करने लगीं, किन्तु अग्नि ने कहा—मैं तो रुद्र की क्रोधरूपा हूँ। उनके आदेश पर ही मैं ऐसा कर रही हूँ।

त्रिपुर को दग्ध होते तथा अपनी स्त्रियों और बच्चों को विलखते देखते हुए भी उनको छोड़कर बाण शिवलिङ्ग को अपने शिर में धारण कर त्रिपुर से बाहर निकलकर गगन मण्डल में चला गया और भगवान् शङ्कर की शरण में जाकर कहने लगा—हे देवदेवेश ! मैंने त्रिपुर का परित्याग कर दिया है। हे महादेव ! यदि मैं वध्य ही हूँ तो यह शिरस्थ लिङ्ग नाश को प्राप्त न हो। हे देव ! मैंने सदा से भक्तिपूर्वक आपकी अर्चना की है। यदि आप मेरी मृत्यु ही ठीक समझते हैं तो अच्छी बात है; किन्तु प्रभो ! प्रत्येक जन्म में आपके चरणकमलों में मेरी भक्ति बनी रहे और मेरा मन सदा आपके ध्यान में लगा रहे। तब उसने अनेक प्रकार से भगवान् की स्तुति की। रुद्र के अनुग्रह से बाण ने देवताओं द्वारा अवध्यत्व प्राप्त किया और वह अपने सुवर्ण से निर्मित तीसरे पुर में पुत्र-पौत्रादि बान्धवों के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। इस प्रकार त्रिपुर में से एक सुवर्ण से निर्मित पुर में तो बाणासुर शिवभक्तिपरायण होकर रहने लगा, द्वितीयपुर दग्ध होता हुआ श्रीशैल में गिरा और तृतीय अमरकण्टक पर्वत पर गिरा। जिन स्थानों पर वे गिरे वहाँ पर रुद्रपीठ हो गये। जलते हुए पुर के कारण अमरकण्टक पर ज्वालेश्वरतीर्थ हो गया, जो शिवलोक को प्राप्त करनेवाला है[१]।

---

१ मत्स्यपु० 146/7-23, 187/1-75.

२०. बुधोत्पत्ति-आख्यान

एकबार ब्रह्माजी ने महर्षि अत्रि को सृष्टि निर्माण के लिए आज्ञा दी। उन्होंने आनन्दमय, क्लेशविनाशक ब्रह्म, विष्णु और रुद्र के आन्तरिक तेज का प्रकाश किया। उनके अष्टम अंश से सोम की उत्पत्ति हुई। सोम पितरेश्वरों के अधिपति हैं। यही सोम बुध के जन्मदाता हैं। चन्द्रमा ने भगवान् विष्णु की आराधना के फलस्वरूप इन्द्रादि देवताओं का अधिपतित्व तथा सातों लोकों का साम्राज्य प्राप्त किया।

एक बार चक्रवर्ती राजा सोम ने उद्यान में देवगुरु बृहस्पति तथा उनकी पत्नी को रति-विलास करते हुए देखा। सोम को भी रमण की उत्कण्ठा हुई। उसने तारा का अपहरण किया और अपने महल में ले आया। इधर बृहस्पति तारा के वियोग से दुःखी होने लगे। जब माँगने पर भी सोम ने तारा को न दिया तो बृहस्पति ने यह वृत्तान्त भगवान् शङ्कर को बताया। क्रोधित होते हुए भगवान् रुद्र अपने गणों सहित आजगव नामक धनुष को लेकर सोम के पास गये। राजा सोम भी अपनी विशाल सेना लेकर युद्ध को उद्यत हो गया। उस युद्ध से सारे लोकों में भयंकर उथल-पुथल हो गयी। भगवान् रुद्र ने कोप से अपना ब्रह्मशीर्ष नामक अस्त्र सोम पर छोड़ा; किन्तु सोम ने उसको विफल बना दिया और अपना अमोघ अस्त्र चलाना प्रारम्भ किया। उस अमोघ अस्त्र के प्रलयंकारी परिणाम को जानने वाले पितामह ब्रह्माजी देवगणों के साथ वहाँ उपस्थित हुए और सोम से कहने लगे—अरे चन्द्र! तुम अकारण ही क्यों विनाश करने पर उतर आये हो? दोष तो स्वयं तुम्हारा ही है; क्योंकि तुमने परस्त्री (बृहस्पति की पत्नी तारा) का हरण किया है और बृहस्पति द्वारा याचना किये जाने पर भी नहीं दिया। केवल युद्ध करके विनाश करना चाहते हो अतः तुम ग्रहों में पापग्रह होकर रहोगे और कृष्णपक्ष में तुम्हारी कलाओं को देवगण एक-एक कला करके पी जायेंगे। अब तुम बृहस्पति की पत्नी तारा को इन्हें लौटा दो।

ब्रह्मा के वचनों को सुनकर चन्द्रमा युद्ध से विरत हो गया। बृहस्पति तारा को लेकर प्रसन्न होता हुआ देवलोक को चला गया। संवत्सर के अन्त में तारा के गर्भ से द्वादश आदित्यों के समान तेजस्वी, दिव्य पीताम्बर धारण किए हुए दिव्य आभूषणों से अलंकृत चन्द्रमा के समान एक कुमार पैदा हुआ, जो सभी शास्त्रों का ज्ञाता, हस्तिशास्त्र का प्रवर्त्तक, अर्थशास्त्र का विद्वान् राजपुत्र था। राजा सोम का पुत्र होने से यह राजकुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेते ही बुध ने अपने तेज से सभी को जीत लिया। उसी समय ब्रह्मादि देव महर्षियों के साथ बृहस्पति के पास आये और जातकर्मादि संस्कार करने के अनन्तर 'तारा' से पूछने लगे कि यह कुमार बुध किसका पुत्र है? लज्जावश तारा कुछ कह न सकी, परन्तु ब्रह्मादिकों द्वारा वार-बार पूछे जाने पर वराङ्गना तारा ने बताया कि यह 'सोम' का ही पुत्र है। तब ब्रह्मा ने उसका नाम 'बुध' रखा और राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर ग्रहों की पंक्ति में स्थान दिया और फिर वे अपने-अपने स्थानों को चले गये। बुध ने कालान्तर में इला के संयोग से पुरूरवा नामक तेजस्वी तथा धार्मिक पुत्र को उत्पन्न किया। जिससे सोम वंश (चन्द्र वंश) चला[1]।

२१. मत्स्यावतार--आख्यान

प्राचीनकाल में सूर्य के पुत्र मनु एक राजा थे। पुत्र को राज्य का भार सौंप कर राजा मनु मलय प्रदेश के एक भाग में पितामह ब्रह्मा की अखण्ड तपस्या करने लगे। दस लाख वर्षों तक निरन्तर साधनारत होने पर प्रसन्न हुए ब्रह्मा ने अभिलषित वर मांगने के लिए कहा। तब मनु ने कहा—हे पितामह! मैं कल्पान्त के समय सम्पूर्ण स्थावरजंगमात्मक ब्रह्माण्ड की रक्षा करने में समर्थ हो सकूँ। ब्रह्मा 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

---

१. मत्स्यपु० 23/1-48/24/1-10.

एक दिन राजा मनु अपने आश्रम में अपने पितृगणों को जलाञ्जलि दे रहे थे। उसी समय जल से भरी उनकी अञ्जलि में एक मछली आकर गिर पड़ी। दयालु राजा उस मछली को जलाञ्जलि में ही रखे रहे। दूसरे दिन वह मछली बढ़कर आकार में २६ अंगुल हो गयी और मत्स्यरूप होते हुए भी 'रक्षा करो' इस प्रकार से कहने लगी। राजा ने उस मत्स्य को एक जल से पूर्ण घड़े में छोड़ दिया; किन्तु वह मत्स्य तीन हाथ का हो गया। तब राजा ने उसे एक कुएँ में छोड़ा; किन्तु पुनः वृद्धि पर एक तालाब में रखा। उस तालाब में भी बढ़ते-बढ़ते वह मत्स्य एक योजन विस्तृत परिमाणवाला हो गया और पुनः दीन वचनों से स्वरक्षार्थ राजा से याचना करने लगा। राजा मनु ने उसे गङ्गा जी में और अन्त में अगाध समुद्र में छोड़ दिया; किन्तु जब वह मत्स्य सारे समुद्र-मण्डल को भी व्याप्त करने लगा तो घबड़ाते हुए राजा ने सोचा कि निश्चित ही भगवान् विष्णु ने मत्स्यरूप से अवतार लिया है। अन्यथा दूसरा कोई ऐसी लीला करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अन्त में राजा मत्स्यावतार को निश्चित जानकर भगवान् की स्तुति करने लगा। तब प्रसन्न हुए मत्स्यावतारी भगवान् विष्णु ने कहा—हे पृथ्वीपति ! कुछ ही समय में यह चराचर जगत् जलमय हो जायेगा और यह देवताओं के तेज से निर्मित नौका ही प्रलयकाल में जीवतत्त्व का आश्रय बनेगी। अतः हे राजन् ! उस समय आप जीवतत्त्व को इस नौका में रखकर उसकी रक्षा करोगे और युगान्त के समय जब वह नौका प्रलयकारी प्रचण्ड वायुवेग से विचलित होने लगे तब आप इसे मेरे शृङ्गशिखर से बांध देना। महाप्रलय के अन्त में जब इस चराचर जगत् का भी लय हो जायेगा, तब आप इस जगत् के स्वामी कहलायेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक प्रलयान्त में तथा सत्ययुग के आदिकाल में आप सभी धर्मतत्त्वों को जानने वाले धृतिमान् तथा मन्वन्तरों के अधिपति होंगे और देवताओं के समान पूज्य होंगे[1]।

---

१. मत्स्यपु० 1/12-35.

२२. मधुकैटभ-आख्यान

मधु और कैटभ नामक दो दैत्य थे, दोनो ही भाई थे। मधु बड़ा था तथा कैटभ छोटा। एकार्णव समुद्र से प्रथम मधु उत्पन्न हुआ। उसी के अनन्तर अत्यन्त वेग से कैटभ भी उत्पन्न हुआ। ये दोनों राजस तथा तामस गुणों का प्रतिनिधित्व करनेवाले थे। पुष्करराज में ब्रह्मा के तप में स्थित रहने पर मधु-कैटभ नामक दैत्यों ने वहाँ आकर विघ्न किया तथा रोषपूर्वक ब्रह्मा से कहा—पुष्कर के मध्यस्थ तुम कौन हो ? यहाँ आओ और हमारे साथ युद्ध करो। ब्रह्मा ने उनसे कहा—जिस प्रभु से संसार उत्पन्न होता है वही तुम्हें नष्ट करेगा। तदनन्तर भगवान् नारायण ने आत्ममाया से उन दोनों दैत्यों को खींच लिया। तब वे भगवान् के सामने प्रणाम कर स्थित हो गये तथा कहा—कि हे भगवन् ! आप संसार के कारण हैं हमारी रक्षा कीजिए। आपका दर्शन विफल नहीं होता है, अतः वरदान दीजिए। भगवान् ने कहा तुम क्या चाहते हो ? तब उन्होंने यह वर माँगा कि हम आपके अतिरिक्त और किसी से न मारे जा सकें[1]।

२३. मय दैत्य का आख्यान

मय एक महाशिल्पी एवं मायावी राक्षस था। एकबार मय ने कठिन तपस्या की। हेमन्त में जलशय्या, ग्रीष्म में पञ्चाग्निसेवन, वर्षा में खुले आकाश के नीचे अनवरत साधना से ब्रह्मा को प्रसन्न किया। हर्षित होते हुए ब्रह्मा ने अभिलषित वर मांगने को कहा। दैत्य शिल्पी मय बोला—हे ब्रह्मन् ! तारकासुर संग्राम में देवताओं ने असुरों को पराजित कर दिया है और अनेक प्रकार से असुर-सेना को ताड़ित किया है, अतः मैं उन असुरों की रक्षा के लिए एक ऐसे 'दुर्ग' का निर्माण कर सकूँ, जहाँ देव-गन्धर्व, मानव, जलचर, थलचर, ऋषि-मुनि आदि किसी का भी प्रवेश न हो सके, और वह दुर्ग अलङ्घनीय हो, जिससे उसमें असुरगण अवध्य होकर

१. मत्स्यपु० 169/1-30.

रह सकें। हँसते हुए ब्रह्मा जी बोले—हे दैत्यश्रेष्ठ ! अवध्य होना तो सम्भव नहीं है, तथापि तुम जिससे चाहो उसके ही द्वारा उस त्रिपुर-दुर्ग का दहन किया जा सकेगा। तब हाथ जोड़ते हुए मय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! केवल भगवान् शंकर ही उस दुर्ग का दहन कर सकें। अन्य कोई देवता नहीं। ब्रह्मा 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

तदनन्तर मय ने मन में सोची हुई योजना के अनुसार अपनी माया के प्रभाव से तीन अद्वितीय दुर्गों का निर्माण किया, जो सामूहिकरूप से 'त्रिपुर' कहलाते थे। एक नगर लोहे से निर्मित था, जो क्षितितल में स्थित था, उस नगर का अधिपति तारकासुर को बनाया। द्वितीय नगर अन्तरिक्ष में स्थित था जो चाँदी से बना था। विद्युन्माली यहाँ का अधिपति नियुक्त हुआ। तृतीय नगर जो स्वर्ण से निर्मित था, स्वयं मय इसमें रहता था। इन तीनों पुरों का स्वामी मय ही था। रत्नों से खचित, उद्यान-वाणी-तड़ाग-वन, लता-गुल्मों, गोपुर-राजमार्गों से युक्त, पुष्पों से सुवासित, दिव्य भोगोपभोगों से सम्पन्न तथा परिधा से घिरे हुए इन दुर्गों में पातालादि सभी जगहों से सहस्रों असुर-दैत्य तथा दानवगण आकर सुरक्षित रहते हुए यथेच्छ विहार करने लगे। प्रसन्न होते हुए असुरगण धर्म-अर्थ-काम में प्रवृत्त होने लगे। धार्मिक कार्यों में तथा सदाचार-पालन में उनकी अभिरुचि हो गई। इस प्रकार उन्होंने दीर्घकाल तक उस त्रिपुर में सुरक्षित रहते हुए अनेक दिव्य-सुखों का उपभोग किया। बहुत समय के अनन्तर एक बार रात्रि में मय को 'त्रिपुर-विनाश' का एक भयंकर स्वप्न दिखाई दिया। प्रातः मय ने अपनी सभा में उस स्वप्न को बताया और कहा कि इस विनाशकारी स्वप्न के प्रभाव को दूर करने के लिए भगवान् त्रिलोचन को प्रसन्न करें।

स्वप्नानुसार अपना विनाश आया जानकर धर्म प्रवृत्त भी असुरगण आसुरी भावों से युक्त होने लगे। आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। तमोगुण की अभिवृद्धि हो जाने से उन्होंने असत्य, अधर्म एवं हिंसा का

मार्ग अपना लिया। ब्राह्मणों से द्वेष करने लगे, देवपूजा से विमुख हो गये और गुरुजनों को अपमानित करने लगे। अशुद्ध आचरण, देवताओं के मन्दिरों का विध्वंस तथा देव-पूजकों को मारने लगे। मय के द्वारा रोके जाते हुए भी असुरों ने स्वर्ग में जाकर वैभ्राज, नन्दन तथा चित्ररथ वनों को नष्ट कर दिया और देवताओं को पीड़ित करने लगे। रम्भादि प्रमुख अप्सराओं का हरण कर लिया तथा ऐरावतादि श्रेष्ठ गजराजों को छीन लिया।

असुरों के उपद्रवों से पीड़ित, आदित्य, वसु, सिद्ध-साध्य, गन्धर्व, पितर, मरुद्गण तथा देवता भयभीत होते हुए पितामह की शरण में गये और उन्हें दानवों के अत्याचार की सूचना दी और अपनी रक्षा के लिए उपाय पूछने लगे। ब्रह्माजी देवताओं के साथ भगवान् शङ्कर के पास गये और अनेक प्रकार की स्तुतियों के अनन्तर अपने आने का प्रयोजन बताया और कहा कि त्रिपुरस्थ असुरों के द्वारा पीड़ित हुए हम आपकी शरण में आये हैं। भगवान् शङ्कर बोले—हे देवगण ! अब आप भय को छोड़िए, मैं उस त्रिपुर को दग्ध करूँगा। आप एक दिव्य रथ निर्माण करें। तब पितामह तथा इन्द्रादिक देवों ने एक उत्तम रथ बनाया, जिसमें भगवान् जनार्दन सारथी बने। भगवान् शङ्कर ने रथ में आरूढ़ होकर देवसेना के साथ दुर्ग-भेदन के लिए प्रस्थान किया।

इधर देवर्षि नारद त्रिपुर-दुर्ग में दैत्याधिपति मय के पास गये और उसे युद्ध के लिए उद्यत देवसेना का समाचार दिया। मय ने देवाधिदेव शंकर का स्मरण तथा पूजन कर असुरगणों को समरोद्योग के लिए उद्बोधित किया। तदनन्तर देव-दानवों का घनघोर युद्ध होने लगा। मय का गणेश्वरों से भीषण घात-प्रतिघात होने लगा। धीरे-धीरे जब असुरसेना विनष्ट होने लगी तो मय को त्रिपुर-भेदन के व्याज से भगवान् शङ्कर का स्मरण होने लगा और उसने समझ लिया कि शम्भु के प्रभाव से ही देवगण त्रिपुर दुर्ग में प्रवेश करने में समर्थ हो रहे हैं और असुरों

का नाश कर रहे हैं। इस प्रकार सोचते हुए उसने असुरों की रक्षा तथा उन्हें पुनः जीवित करने के लिए अपनी माया से एक अमृत-जल से पूर्ण वापी (तालाब) का निर्माण किया, जिसका जल पीकर राक्षसगण अवध्य होने लगे और मरे हुए राक्षसों को उसमें छोड़कर पुनः जीवित करने लगे। शंकुकर्ण ने माया से निर्मित वापी तथा उसके प्रभाव का वर्णन भगवान् महेश्वर, ब्रह्मा तथा विष्णु से किया। तब जनार्दन ने त्रिपुर दुर्ग में प्रवेश कर वृषरूप धारण कर उस वापी का जल पान कर लिया। तब वापीपाल ने मय को सन्देश दिया कि वृषरूपी किसी जन्तु ने बावड़ी का जल पी लिया है। वापीपाल के वचनों को सुनकर मय को अत्यधिक कष्ट हुआ और वह कहने लगा—यदि ऐसी बात है तो यह निश्चित है कि हम सब लोग अब मारे गये। तब मय अपने सम्पूर्ण त्रिपुर दुर्ग को माया के बल से सागर में ले आया, जिससे असुरों की रक्षा हो सके। दुर्गस्थ सभी असुरों सहित मय के पलायित हो जाने पर त्रिपुरारि भगवान् शङ्कर ने ब्रह्मा से रथ को सागरस्थ-प्रदेश में ले जाने के लिए कहा। पुनः असुरों के साथ युद्ध हुआ, जिसमें तारकादि बड़े-बड़े राक्षस मारे गये। मय तथा विद्युन्माली ने क्रोधाग्नि से प्रमथगणों तथा गणेश्वरों को जलाना प्रारम्भ कर दिया और असुरों का उद्बोधन कर उन्हें युद्ध के लिए तैयार किया। पुनः घनघोर युद्ध होने लगा। पुष्यनक्षत्र के उदय होने पर भगवान् त्रिशूली ने अपने तीक्ष्ण बाणों से त्रिपुरदुर्ग का भेदन कर दिया। तब बाणाग्नि से वह त्रिपुर जलने लगा और मय अपने दुर्ग से भाग निकला। भगवान् शङ्कर का अनन्य भक्त जानकर सहस्राक्ष इन्द्र ने मय का वध नहीं किया। शिव ने मय के लिए एक अन्य भवन बनाकर उसमें रखा। उस मयपुर में भी देवता, आप्तोर्याम आदि निवास करते थे। शिव की कृपा दृष्टि से मय अपने नवीन भवन में सुखपूर्वक सदाचार पालन करते हुए रहने लगा। त्रिपुर दुर्ग तथा अन्य असुरों के विनाश हो जाने पर देवगण प्रसन्न हो गये[1]।

---

१. मत्स्यपु० 128/3-36, 121, 131-140

२४. मरुद्गणोत्पत्ति-आख्यान

प्राचीनकाल में देवासुर-संग्राम में देवताओं द्वारा दैत्यों के मार दिये जाने पर पुत्र-पौत्रादिकों के शोक से संतप्त दिति ने सरस्वती नदी के तट पर कठिन तपस्या प्रारम्भ की। फल-मूलादिक का भक्षण कर कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों को करते हुए जब २०० वर्ष व्यतीत हो गये, तब दिति ने वशिष्ठादि महर्षियों से पुत्रप्राप्ति तथा अखण्ड सौभाग्य को प्राप्त करने का उपाय पूछा। तब उन्होंने 'मदनद्वादशी' नामक व्रत के अनुष्ठान के लिए कहा और बताया कि जो भी चैत्रमास के शुक्लपक्ष में द्वादशी तिथि को कामदेवरूप में भगवान् विष्णु की तथा रतिरूप में लक्ष्मी की पूजा अर्चना करता है तथा व्रत रखता है और वर्षभर प्रत्येक मास में व्रत रखकर त्रयोदशी को व्रतोद्यापन करता है, वह सभी पापों से विनिर्मुक्त होकर अन्त में हरिसायुज्य प्राप्त करता है। इस लोक में व्रती स्त्री उत्तम पुत्रों को प्राप्त कर अखण्ड सौभाग्य प्राप्त करती है। पुत्रप्राप्ति का उपाय जानकर दिति कश्यप के पास आयी और सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया। दिति व्रतादि अनुष्ठान करने लगी। कश्यप के संसर्ग से दिति को गर्भ रहा।

इन्द्र को इस वृत्तान्त की जानकारी हुई और वह शत्रुपत्नी दिति के पास आया और दिति के उदर में प्रविष्ट होकर वज्र से दिति के गर्भस्थ शिशु को सात बार काट दिया; किन्तु सूर्य के समान तेजस्वी वे कुमार सात होकर गर्भ से बाहर निकले। इन्द्र ने पुनः प्रत्येक को सात बार काटा। तदनन्तर रोते हुए वे कुमार संख्या में ४९ हो गये।

वज्र से काटने पर भी वे क्यों नहीं मरे ऐसा सोचते हुए इन्द्र ने समझा कि निश्चित ही यह किसी व्रत का माहात्म्य है। ध्यान लगाने पर उसे ज्ञात हुआ कि दिति ने मदनद्वादशी व्रत का अनुष्ठान किया है। उसी व्रत-माहात्म्य से ये तेजस्वी कुमार पुनः जीवित हो उठे हैं। रोते हुए उन कुमारों को इन्द्र ने 'मत रोओ' (मा रोदिष्ट) इस प्रकार कहा। इसी से वे ४९ तेजस्वी कुमार 'मरुद्गण' इस नाम से विख्यात हुए और इन्द्र द्वारा उन्हें देवत्व की प्राप्ति हुई। दिति के साथ उन मरुद्गणों को विमान में लेकर देवराज इन्द्र देवलोक को गये। तभी से ये मरुद्गण यज्ञ के भागी भी हुए[1]।

१. मत्स्यपु० 7/165

२५. महिषासुर-आख्यान

महिष रसातल का निवासी तारकासुर के दस प्रधान सेनानियों में से अन्यतम था। तारक के राज्यतिलक में यह उपस्थित था। इसके रथ में ऊँट जुतते थे। देवासुर-संग्राम में वह देवताओं से लड़ा था। इसने कुबेर पर 'सावित्री' नामक अस्त्र से प्रहार किया था। निर्ऋति तथा वरुण दोनों को पराजित किया एवं कुजम्भ को पाशमुक्त किया। जब मथन राक्षस जनार्दन से पराजित हो गया, तब इसने उनपर शूल से तथा गरुड़ पर शक्ति से आक्रमण किया, किन्तु भगवान् ने इसके सभी अस्त्रों को विफल बनाते हुए कहा था कि तू एक स्त्री से मारा जायेगा। बाद में वह महिषासुर देवी दुर्गा द्वारा मारा गया[1]।

२६. ययाति-आख्यान

चन्द्रवंश में उत्पन्न ययाति चक्रवर्ती सम्राट् थे। इनके पिता का नाम नहुष था। नहुष के यति-ययाति-संयाति-उद्भव-याचि-सर्याति तथा मेघ-जाति नामक सात पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र यति राज्य की इच्छा न करते हुए वन में तपस्या के लिए चले गये। अतः द्वितीय पुत्र ययाति राजसिंहासन पर समारूढ़ हुआ।

दैत्यराज वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा तथा दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से राजा ययाति का विवाह हुआ था। राजा ने देवयानी को अपने महल में तथा शर्मिष्ठा को 'अशोकवन' में एक भवन में रखा। कालान्तर में ययाति को पाँच पुत्र प्राप्त हुए। यदु तथा तुर्वसु ये दो देवयानी से तथा द्रुह्यु, अनु और पुरु ये तीन शर्मिष्ठा से उत्पन्न हुए। यदु से यादव तथा पुरु से पौरव वंश की परम्परा चली।

शुक्राचार्य के शाप से राजा ययाति असमय में ही बूढ़े हो गये, किन्तु जब उन्होंने शुक्राचार्य की बहुत अनुनय-विनय की, तो वे बोले—'यदि कोई तुम्हारी वृद्धावस्था लेकर अपनी युवावस्था तुम्हें दे दे तो तुम पुनः युवा हो सकते हो।

---

१. मत्स्यपु० 146/28, 147/42-51, 141/113, 133-135, 150/8, 13, 151/17-24.

असमय में ही वृद्ध हुए राजा ययाति ने अपने पुत्रों से अपनी युवावस्था देने के लिए कहा। यदु, तुर्वसु द्रुह्यु तथा अनु ने पिता की अवमानना की। फलतः राजा ने उन्हें राज्य-भ्रष्ट होने का शाप दे दिया। सबसे छोटे पुत्र पुरु ने पिता की याचना को सहर्ष स्वीकार कर अपनी युवावस्था उन्हें दे दी और स्वयं वृद्ध हो गये।

युवा होकर राजा ने धर्मपूर्वक राज्य का शासन करते हुए विविध सुखों का उपभोग किया। उन्होंने यज्ञ से देवताओं को तृप्त किया, श्राद्ध से पितामहादिकों को सन्तुष्ट किया, इष्ट अनुग्रह से दीन जनों को, इष्ट कामनाओं से द्विजवर्ग को, अतिथियों को अन्नदान से, वैश्यों को प्रतिपालन से; शूद्रों को दयालुता से शमन कर आनन्दपूर्वक सम्पूर्ण प्रजा का पालन किया।

इस प्रकार एक सहस्रवर्षपर्यन्त समस्त ऐश्वर्यों तथा ऐन्द्रिय-विषयों का उपभोग करने पर भी जब उनकी कामनाओं की तृप्ति न हो सकी, तब भोगों की असारता को समझते हुए राजा ययाति पुरु के पास गये और कहने लगे—हे पुरो ! जैसे अग्नि में घृताहुति छोड़ने से वह बढ़ता जाता है उसी प्रकार भोगों के भोगने से उनकी तृप्ति न होकर वे बढ़ते ही जाते हैं। अतः हे पुरो ! तुम अपने यौवन को ले लो और मेरी जरा, मुझे दे दो। तब पुरु को राज्याभिषिक्त कर ययाति पुनः वृद्ध होकर तपस्या के लिए वन में चले गये।

वानप्रस्थी होकर ययाति ने कठोर तपस्या की और वे स्वर्गलोक जाने में सफल हुए। देवलोक में उन्होंने दीर्घकाल तक अनेक सुखों का उपभोग किया। ययाति तथा देवराज इन्द्र में वार्त्ता के मध्य अपनी तपस्या को सर्वश्रेष्ठ बताने के कारण इन्द्र ने क्षीणपुण्य हुए ययाति को स्वर्ग से अपदस्थ हो जाने का शाप दिया। स्वर्ग-च्युत होते हुए ययाति 'अष्टक' की यज्ञ-भूमि में पहुँचे। अष्टक के पूछने पर ययाति अपना सारा वृत्तान्त अष्टक को बताया।

अष्टक के साथ ही प्रतर्दन, शिवि तथा वसुमना ने राजा ययाति से निवेदन किया कि यदि उनके लिए स्वर्ग में स्थान हो तो वे जाकर उसका उपभोग करें। क्षत्रिय होने के कारण ययाति ने प्रतिग्रह नहीं लिया।

इसी बीच जलती अग्निशिखा के समान पाँच रथ आकाश मार्ग से से आये। ययाति ने कहा हम पाँचों को लेने के लिए ये पाँच रथ स्वर्ग से आये हैं। अष्टकादि उन राजर्षियों के अनुरोध पर ययाति ने भी रथ में आरूढ़ होकर देवलोक को प्रस्थान किया। ययाति ने उन्हें अपना परिचय दिया और बताया कि वे चारों उनके दौहित्र हैं। इस तरह ययाति ने अपने दौहित्रों के प्रताप से पुनः स्वर्ग में जाकर इन्द्रादि देवों द्वारा प्रशंसनीय होते हुए स्वर्गिक सुखों का आनन्द प्राप्त किया[1]।

२७. रजि-आख्यान

पुरूरवा का ज्येष्ठ पुत्र आयु था। आयु के पाँच पुत्र हुए। उनमें रजि तीसरा पुत्र था। रजि ने विष्णु की आराधना करके देवता, राक्षसों तथा मनुष्यों से अजेयत्व होने का वर प्राप्त किया।

एकबार देवासुर-संग्राम प्रारम्भ हुआ और जब निरन्तर तीन सौ वर्षों तक चलते रहने पर भी जय-पराजय का निर्णय न हो सका, तब देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर पूछा—हे पितामह! इस युद्ध में किसकी विजय होगी। ब्रह्मा ने कहा जिस पक्ष में रजि रहेंगे वह पक्ष विजयी होगा। दैत्य इनके पास सहायता के लिए गये। तब उन्होंने स्वयम् इन्द्र बनने की इच्छा प्रकट की, किन्तु दैत्यों ने इन्हें इन्द्र बनाना स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वे प्रह्लाद के लिए यह पद देने का निश्चय कर चुके थे। तब इन्होंने देवताओं से भी इन्द्र बनने की शर्त पर उनकी सहायता की और असुरों का नाश किया। अन्त में इन्द्र ने रजि को प्रसन्न किया और रजि ने इन्द्र को ही इन्द्र पद पर रहने दिया तथा वे तपस्या करने के लिए वन में चले गये।

रजि के सौ पुत्र थे, जिन्होंने देवराज इन्द्र को पीड़ित कर उसे राज्य से भ्रष्ट कर दिया। तब दुःखित होकर इन्द्र बृहस्पति के पास गये और रजि-पुत्रों का वृत्तान्त बताया। अन्त में बृहस्पति की सहायता से इन्द्र ने उनका वज्र से वध किया[1]।

१. मत्स्यपु० 24/49-62 31-25 42.
२. मत्स्यपु० 24/34-49.

२८. वज्राङ्ग-आख्यान

वज्राङ्ग दिति के गर्भ से उत्पन्न एक दैत्य था। एक बार इन्द्र के द्वारा दिति को पुत्रहीन बना दिये जाने पर दुःखी दिति ने अपने स्वामी कश्यप से एक ऐसे पुत्र की याचना की जो इन्द्र को पराजित कर सके तथा देवताओं के द्वारा अस्त्र-शस्त्रादि किसी से भी मारा न जा सके। कश्यप ने उसे दस हजार वर्षों तक कठिन तपस्या करने के लिए कहा। इससे तुम वज्र के समान कठोर तथा शस्त्रों से भी अच्छेद्य वज्राङ्ग नामक पुत्र प्राप्त करोगी। इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति का वर पाकर दिति ने वन में दस हजार वर्षों तक के लिए घोर तपस्या की। तपस्या की पूर्णता के अनन्तर उसने वज्र से अच्छेद्य पुत्र को प्राप्त किया। बज्राङ्ग नामक वह पुत्र जन्म से ही सभी शास्त्रों को जानने वाला था। उत्पन्न होते ही उसने कहा—हे मातः ! मुझे क्या करना है ? आप आदेश दें। प्रसन्न होते हुए दिति के कहा—वत्स ! मेरे बहुत से पुत्रों को सहस्राक्ष इन्द्र ने मार डाला है। अतः तुम इन्द्र के वध के लिए उस पर चढ़ाई करो।

माँ की आज्ञा पाकर बज्राङ्ग देवलोक गया और जिस प्रकार व्याघ्र एक क्षुद्रमृग को पकड़ लेता है, उसी प्रकार अमोघ अस्त्र से इन्द्र को बाँध-कर माता के समीप ले आया; किन्तु फिर ब्रह्मा तथा कश्यप के कहने पर उसे छोड़ दिया और कहा—हे तात ! इन्द्र को पकड़ने का मेरा कोई उद्देश्य नहीं था। मैंने तो केवल माता के आदेश का पालन किया है। हे देव ! मेरी तो तपस्या में आसक्ति है, अतः मेरी तपस्या निर्विघ्न सम्पन्न हो। वज्राङ्ग के इतना कहने पर पितामह ब्रह्मा ने कहा—हे वज्राङ्ग ! तुम निर्भय होकर तपस्या करो। तुम्हारी तपस्या पूर्ण होगी। ऐसा कहकर पितामह ने एक सुन्दर नेत्रोंवाली वराङ्गी नामक कन्या को उसे पत्नीरूप में दिया और वे चले गये।

तब प्रसन्न होता हुआ वज्राङ्ग भी वराङ्गी को लेकर तप करने वन में चला गया। वहाँ उसने कभी हाथों को ऊपर उठाये हुए, कभी नीचे को मुख किए हुए हजारों वर्ष तक घोर तपस्या की और फिर उसने हजार वर्ष जल के अन्दर व्यतीत किये। उसके जल में प्रवेश कर जाने पर उसकी पत्नी वराङ्गी ने उसी नदी के तीर पर मौन व्रत रहते हुए तपस्या करना प्रारंभ किया। उसकी तपस्या से भय खाते हुए इन्द्र ने बहुत प्रकार से उसे

कष्ट पहुँचाया। सहस्रवर्ष व्यतीत हो जाने पर वज्राङ्ग जल-समाधि से बाहर निकला और तपस्या से सन्तुष्ट हुए पितामह ब्रह्मा को सामने पाकर कहने लगा—हे ब्रह्मन्! मेरी आसुरी भावों में प्रवृत्ति न हो। जब तक मेरा शरीर रहे मेरी प्रीति केवल तपस्या में ही बनी रहे। 'तथास्तु' कहकर ब्रह्मा चले गये। वज्राङ्ग भी स्थिरचित्त होकर आहार की इच्छा करता हुआ अपने आश्रम में आया; किन्तु वहाँ अपनी माया वराङ्गी को न पाकर क्षुधा-पीड़ित होता हुआ स्त्री को ढूढ़ने वन में निकला। वहाँ उसे घुटनों में सिर छिपाये हुए, रोती हुई दीन अवस्थावाली प्रिया दिखाई दी। उसे सान्त्वना देते हुए कहने लगा—हे भीरु! तुम्हारी ऐसी दशा किसने बनायी, किसे यमपुर जाने की इच्छा है? हे मानिनि! तुम्हारी किस इच्छा को मैं पूरा करूँ? शीघ्र ही बोलो। तब दुःखित वराङ्गी ने कहा—मैं देवराज इन्द्र के द्वारा अनेक बार प्रताड़ित की गई हूँ। अतः हे नाथ! मुझे तारक नामक एक पुत्र दीजिए, जो मेरे शोक को दूर कर सके। तब पत्नी की कामना-पूर्त्ति के लिए पुनः तपस्या में संलग्न हो गया। उसके कठोर तप को देखते हुए ब्रह्मा ने उसे तारक नामक महाबली पुत्र-प्राप्ति का वर दिया। वर प्राप्त कर हर्षित होते हुए वे दम्पती अपने आश्रम में सुखपूर्वक रहने लगे। समय पर वराङ्गी को गर्भ रहा और उसने एक सहस्रवर्ष तक गर्भ को धारणकर अन्त में एक अत्यन्त बलवान् पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र के पैदा होते ही पृथ्वी हिलने लगी, समुद्र में उथल-पुथल होने लगी तथा तीव्र वेग से वायु प्रवाहित होने लगी। तारक के पैदा होने पर असुरगण अत्यन्त प्रसन्न हो गये, इसके विपरीत इन्द्रादिक देव उस अत्याचारी तारक के उत्पन्न होने से दुःखित हो गये। असुरगणों ने तारक को राज्यपद पर अभिषिक्त किया[1]।

२९. वास्तुपुरुष- आख्यान

प्राचीन समय में अन्धकासुर से भगवान् शंकर का भीषण युद्ध हुआ। उस समय भगवान् शंकर के ललाट से जो पसीने की बूँदें जमीन पर गिरीं, उससे भयङ्कर शरीरवाले वास्तु-पुरुष की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होते ही

१. मत्स्यपु॰ 145/38–781 46/1–29

उसने अन्धकगणों का रुधिर पीना प्रारम्भ कर दिया और जो भी युद्ध स्थल में गिर पड़ता, सबको वह खाने लगा; किन्तु तब भी उसे तृप्ति नहीं हुई। उसकी इतनी भयानक आकृति थी कि वह सारे त्रिलोकी को निगलना चाहता था। तब शंकर तथा ब्रह्मादिक देवों ने वास्तु के लिये उसकी स्थिति निर्धारित कर वास्तु-देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। तबसे वह अधोमुख होकर स्थित रहता है। गृह की प्रतिष्ठा के समय इसकी पूजा होती है। वास्तु-पूजा की बलि, वैश्वदेव के अनन्तर का भाग, विधिरहित यज्ञ का फल तथा यज्ञ आदि उत्सवों में जो बलि दी जाती है, वह सब वास्तु-देवता के निमित्त ही रहती है। गृहादिक शान्ति कार्यों में वास्तु देवता को बलि दी जाती है[१]।

३०. विद्युन्माली-आख्यान

विद्युन्माली तारकासुर का पुत्र एक राक्षस था। महामायावी मय तथा तारकासुर के साथ इसने कठिन तपस्या कर ब्रह्मा से अद्वितीय बलवान् होने का वर प्राप्त किया था। मय द्वारा तीन दुर्गों (त्रिपुर) का निर्माण किया गया था, जिसमें से विद्युन्माली चाँदी से निर्मित दुर्ग का अधिपति था। सौ योजन विस्तारवाला इसका दुर्ग अन्तरिक्ष में स्थित था। देवासुर-संग्राम में नन्दीगणों के साथ इसका भीषण युद्ध हुआ था। जिसमें नन्दीश्वर द्वारा यह मार दिया गया था; किन्तु मय द्वारा निर्मित मायावी वापी (तड़ाग) में तारकासुर द्वारा छोड़े जाने पर पुनः जी उठा और युद्ध के लिए उद्यत हो गया। गणेश्वरों द्वारा तारकासुर के मार दिए जाने पर मय ने विद्युन्माली का उद्बोधन किया। तब मय के साथ इसका गणेश्वरों तथा नन्दी के साथ भयङ्कर युद्ध हुआ। उसमें गणेश्वरों को इसने मोहित कर दिया; किन्तु अन्त में नन्दीश्वर के द्वारा इसका शरीर छिन्न-भिन्न कर दिया गया[२]।

---

१. मत्स्यपु० 251/5-19.

२. मत्स्यपु० 128/5–13, 129/18-10, 134-148-58 135/16-24, 137/45-56 139-18-36.

२१. शर्मिष्ठा-आख्यान

शर्मिष्ठा दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री थी। वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य की कन्या का नाम देवयानी था। एक बार देवयानी और शर्मिष्ठा में साधारण-सी बात पर झगड़ा हो गया। शर्मिष्ठा ने क्रोधित होकर देवयानी को कुएँ में ढकेल दिया और उसे मृत समझकर वापस घर लौट आयी। उसी समय राजा ययाति शिकार खेलते हुए वहाँ पहुँचे और देवयानी को कुएँ से निकाल घर चले गये। देवयानी ने सारा वृत्तान्त अपने पिता से कहा। तब पिता शुक्राचार्य क्रोधित होकर देवयानी को शान्त करते हुए वृषपर्वा के पास जाकर शर्मिष्ठा के कुकृत्यों की निन्दा की। वृषपर्वा ने देवयानी को प्रसन्न करने के लिए उसकी शर्त के अनुसार शर्मिष्ठा को एक सेविका के रूप में हजार दासियों के साथ गुरु शुक्राचार्य के घर भेज दिया।

एक दिन देवयानी अपनी दासी शर्मिष्ठा के साथ वन में विहार करने गयी उसी समय भ्रमण करते हुए राजा ययाति वहाँ पहुँचे। देवयानी ने अपना तथा शर्मिष्ठा का एक सेविका के रूप में परिचय दिया। कच के शाप के परिणामस्वरूप देवयानी का राजा ययाति से विवाह हो गया। उसकी सेविका शर्मिष्ठा भी देवयानी के साथ गयी। ययाति ने देवयानी को अपने महल में तथा शर्मिष्ठा को 'अशोक वन' में एक सुन्दर भवन में रखा। राजा ययाति ने शर्मिष्ठा के अनुरोध पर उससे रमण किया और द्रुह्यु, अनु तथा पुरु नामक तीन पुत्र शर्मिष्ठा के गर्भ से उत्पन्न हुए[1]।

३२. शुक्राचार्य-आख्यान

शुक्राचार्य महर्षि भृगु और हिरण्यकशिपुसुता दिव्या का पुत्र था। इसके काव्य, शुक्र, उशना, आदि अनेक नाम थे। ज्ञानियों में श्रेष्ठ यह दैत्यों का गुरु था और देवगुरु वृहस्पति से इसका वैमनस्य था।

एक बार देवराज इन्द्र द्वारा भयभीत असुरों को सान्त्वना देते हुए

1. मत्स्यपु० अ० 27-31/32/1-10

शुक्राचार्य ने कहा—हे दैत्यगणो ! औषधियाँ, सब प्रकार के रस तथा उत्तमोत्तम वस्तुएँ मेरे पास हैं, देवताओं के पास तो एक चतुर्थांश ही है। वे सब वस्तुएँ मैं आप लोगों को दूँगा। आपके लिए ही वे सब मैंने सुरक्षित रखी हैं।

देवताओं ने देखा कि शुक्राचार्य ने राक्षसों को सुरक्षित बना रखा है और वे औषधियाँ भी उनको देने के लिये सोच रहे हैं। यदि ऐसा हो जायेगा तो असुरगण अजेय हो जायेंगे। अतः जब तक वे उन्हें सबल नहीं बना लेते, उन्हें पाताललोक भगा दिया जाय। किन्तु शुक्राचार्य ने भगाये जाते हुए राक्षसों की रक्षा की और उनसे कहा—हे असुरों ! पूर्व हुए युद्धों में तुम देवताओं द्वारा बारह बार पराजित किए जा चुके हो, बलि को बाँध लिया गया, जम्भ, विरोचन आदि बड़े-बड़े योद्धाओं को मार दिया गया। अब तुम लोग बहुत थोड़े बचे हो, अतः युद्ध मत करो। कुछ समय तक रुक जाओ। मैं विजयार्थ भगवान् शंकर के पास 'मन्त्र-विद्या' सीखने जाता हूँ। जब तक मैं वापस न आ जाऊँ, तब तक तुम लोग मेरे पिता भृगु के आश्रम में हथियार त्याग कर तपस्या करो। ऐसा कहकर वे चले ग। असुरों ने देवताओं से कहा—इस समय हम लोग शस्त्रविहीन हो गये हैं और हम लोग वन में वल्कल वस्त्रों को धारण कर तपस्या करेंगे। देवगण उन्हें शस्त्रविहीन देख वापस चले गये।

शुक्राचार्य ने भगवान् शंकर के पास जाकर कहा—हे देवाधिदेव ! देवों के पराभव तथा असुरगणों के विजयार्थ मैं उस मन्त्रविद्या को आपसे प्राप्त करना चाहता हूँ, जो देवगुरु बृहस्पति के पास नहीं है। महादेव द्वारा बतायी गयी विधि से शुक्राचार्य एक सहस्र वर्ष तक के लिए 'कुण्डधूमसेवन' की कठिन साधना में लग गये।

शुक्राचार्य के आदेशानुसार असुरगण काव्य-माता दिव्या के आश्रम में रहकर तपस्या करने लगे। दिव्या ने उन्हें अभयदान दिया। अमर्षयुक्त होकर देवगण पुनः आश्रमस्थ असुरों को त्रास देने लगे; किन्तु कुपित हुई काव्य-माता के भय से देवराज इन्द्र ने भगवान् विष्णु की शरण ली। देवों को विष्णु की शरण में गया जानकर भृगुपत्नी दिव्या ने अपने तपोबल से सारे देवलोक को जलाना प्रारम्भ कर दिया। भगवान् विष्णु ने देवलोक को जलता हुआ देखकर क्रोधित होते हुए अपने सुदर्शन चक्र

से दिव्या का शिरश्छेद कर दिया। विष्णु के अनौचित्य तथा अधार्मिक कार्य को देखकर महर्षि भृगु ने उन्हें मनुष्यों में सातबार जन्म लेने का शाप दे दिया और मन्त्रों द्वारा अभिमंत्रित जल से दिव्या को पुनः जीवित कर लिया।

काव्यमाता से पराभूत हुए इन्द्र ने अपनी पुत्री जयन्ती को सारा वृत्तान्त बताया और अपने मोहपाश अथवा जिस किसी भी उपाय से दैत्यगुरु शुक्राचार्य की तपश्चर्या को भंग करने के लिए कहा। जयन्ती शुक्राचार्य के पास जाकर उनकी सेवा करने लगी।

धम्रव्रत की पूर्णता पर प्रसन्न हुए महादेव शंकर ने शुक्राचार्य को दर्शन दिया तथा उसके शरीर का स्पर्श करते हुए तीन वर दिये—किसी से पराजित न होना, धन पर आधिपत्य एवं अमरत्व। शुक्र की पुनः की गयी स्तुतियों से प्रसन्न होते हुए महादेव अभिलषित वरों को देते हुए अन्तर्धान हो गए।

भगवान् के अन्तर्द्धान हो जाने पर शुक्राचार्य ने समीप में ही स्थित जयन्ती से कहा—हे वरारोहे ! तुमने मेरी अत्यधिक सेवा की है अतः तुम अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करोगी। शुक्राचार्य ने जयन्ती के साथ अपने भवन में जाकर विवाह किया और दस वर्षों तक उसके साथ रमण किया। शुकाचार्य तथा जयन्ती के संसर्ग से देवयानी का जन्म हुआ। जयन्ती के आग्रह पर शुक्राचार्य ने ये दस वर्ष असुरों से परोक्ष में ही रहकर बिताए : इस बीच देवगुरु बृहस्पति असुरों के मध्य शुक्राचार्य के छद्मवेष में रहने लगे।

दश वर्ष की समाप्ति पर शुक्राचार्य प्रकट हुए। तब दो शुक्राचार्यों को देखकर असुरगण दुविधा में पड़ गये। शुक्राचार्य द्वारा सारा रहस्य बताए जाने पर भी जब असुरों को उनपर विश्वास नहीं हुआ, तब वे रुष्ट होकर चले गये और उन्होंने शाप दे दिया कि हे असुरो ! तुम संज्ञाविहीन होकर देवताओं से पराजित हो जाओगे।

बृहस्पति (छद्मवेषधारी शुक्राचार्य) शुक्राचार्य के उस शाप से अपने उद्देश्य की पूर्त्ति जानकर प्रसन्न होते हुए अन्तर्धान हो गये। असुरगणों को वास्तविकता का पता लगते ही अपनी भूल मालूम हो गयी।

दुःखित होते हुए वे दैत्यराज प्रह्लाद को लेकर शुक्राचार्य के पास गये और बहुत अनुनय-विनय कर पुनः शुक्राचार्य को प्रसन्न किया।

शुक्राचार्य ने अपने दो पुत्रों को असुर सेना के साथ कर दिया। असुरगणों ने देवताओं से युद्ध कर उन्हें पराजित कर दिया। देवताओं ने आपस में मन्त्रणा कर एक यज्ञ के आयोजन में शुक्राचार्य के दोनों पुत्रों को निमन्त्रित कर उनके साथ दुरभिसन्धि कर अपने पक्ष में कर लिया और युद्ध द्वारा दानवों को पराजित कर दिया। काव्य के शाप के परिणामस्वरूप पराजित तथा अनाथ हुए दानवगण रसातल चले गये और वहीं प्रह्लाद की शरण में रहने लगे[1]।

३३. स्यमन्तकमणि-आख्यान

वृष्णि के वंश में निघ्न नामक एक राजा हुए। जिनके प्रसेन तथा शक्तिसेन नामक दो पुत्र थे। प्रसेन (प्रसेनजित) ने सूर्य की आराधना कर उनसे रत्नों में श्रेष्ठ स्यमन्तकमणि प्राप्त की। उसके लिए स्वयं कृष्ण भगवान् भी लालायित थे, किन्तु प्रसेन ने उनको नहीं दी।

एक बार प्रसेन मणि को अपने कण्ठ में धारण कर जंगल में शिकार खेलने गया। वहाँ एक सिंह ने प्रसेन को मारकर उसकी मणि छीन ली। तत्पश्चात् जाम्बवान् ऋक्ष ने सिंह को मारकर मणि लाकर अपनी गुफा में रख दी।

सत्राजित् आदि यदुवंशी राजाओं ने प्रसेन को न पाकर यह समझा कि कृष्ण ने ही प्रसेन को मारकर वह मणि ले ली होगी। इस मिथ्या कलंक से बचने के लिए कृष्ण वन में गये और प्रसेनजित् को ढूँढ़ते हुए उस गुफा के समीप पहुँचे जहाँ ऋक्षराज जाम्बवान् ने सिंह को मारा था। श्रीकृष्ण ने गुफा में प्रवेश किया। उन्हें देखकर जाम्बवान् ने क्रोध से अत्यन्त भयंकर शब्द किया। तब भगवान् चक्रपाणि ने कुपित होते हुए जाम्बवान् को पकड़ लिया। अन्त में जाम्बवान् ने प्रार्थना से भगवान् को प्रसन्न कर लिया, तब भगवान् ने वर माँगने को कहा। जाम्बवान् ने चक्र

१. मत्स्य ० /47/5:-232.

से अपनी मृत्यु माँगी तथा मणि सहित अपनी पुत्री जाम्बवती को पत्नी-रूप में ग्रहण करने का आग्रह किया। उसकी इच्छा पूर्ण करते हुए भगवान् स्यमन्तकमणि तथा जाम्बवती को लेकर वापस लौटे। स्यमन्तकमणि उन्होंने पुनः सत्राजित् को सौंपकर अपना मिथ्याकलंक दूर किया[1]।

३४. सावित्री-आख्यान

मद्रदेशाधिपति अश्वपति ने सन्तान की प्राप्ति के लिए सावित्री-देवी की आराधना की। प्रसन्न होकर देवी सावित्री ने राजा को स्वगुणानुरूप एक पुत्री प्राप्त करने का वर दिया। यथोचित समय पर राजा की पत्नी मालती ने एक पुत्री को जन्म दिया। देवी सावित्री की कृपा से प्राप्त उस कन्या का नाम भी पिता ने सावित्री ही रख दिया। यौवन को प्राप्त सावित्री के विवाह की बात राजा को चिन्तित करने लगी। तब उन्होंने शाल्वदेश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् से सावित्री का विवाह निश्चित किया। नारद ने आकर राजा तथा सावित्री को बताया कि सत्यवान् की आयु केवल एक वर्ष ही शेष है, अतः किसी दूसरे योग्य पुरुष को संकल्पित करें; किन्तु अन्त में सत्यवान् से सावित्री का विवाह हो गया।

सत्यवान् के पिता अन्धे होने के कारण गद्दी से उतार दिये गये थे, अतः वे परिवार सहित वन में रहने लगे। सावित्री अपने सास-ससुर तथा भर्त्ता सत्यवान् की खूब सेवा-शुश्रूषा करने लगी और पातिव्रत धर्म से सबको प्रसन्न कर ली। सत्यवान् की आयु जब केवल चार दिन शेष रह गयी तब सावित्री अत्यन्त दुःखित रहने लगी, तथापि उसने यह संकल्प कर लिया और उसे पूर्ण विश्वास भी था कि वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेगी। अन्तिम दिन सत्यवान् जंगल से लकड़ी लाने के लिए जाने लगा तो सावित्री ने भी छाया की तरह उनका अनुगमन किया। सत्यवान् जब

१. मत्स्यपु० 45/3-18.

लकड़ी काट रहा था उसी समय एकाएक उसके मस्तिष्क में गहन पीड़ा का संचार होने लगा। वेदना से व्याकुल उसने सावित्री के पास जाकर कहा—प्रिये ! एकाएक मेरे सिर में बहुत तेज दर्द हो रहा है, मेरी आँखों के सामने अन्धकार-सा छाने लग गया है, मुझे पता नहीं क्या हो रहा है। तुम्हारी गोद में सिर रखकर सोने की इच्छा हो रही है। सावित्री ने पति को गोद में सुला लिया। सत्यवान् की आँखें बन्द हो गयीं।

सावित्री को उसी समय मृत्यु तथा काल के साथ सुन्दर आभूषणों से अलंकृत यमराज सामने खड़े दिखाई दिये। तब यमराज ने सत्यवान् के शरीर में निहित अंगुष्ठमात्र सूक्ष्मपुरुष (शरीर) को अपने पाश में बद्ध कर लिया और दक्षिण दिशा की ओर तीव्र गति से जाने लगे। सावित्री ने भी यमराज का पीछा किया। यमराज ने कहा—सावित्री, तुम गुरुजनों की पूजा में प्रेम रखनेवाली हो, साध्वी हो, पतिधर्मपरायण हो, धर्माधर्म को जाननेवाली हो, अतः तुम लौट जाओ।

सावित्री ने कहा—पति ही स्त्रियों का देवता है, इसलिए जहाँ मेरा प्राणधन जाता है वहीं मुझे जाना चाहिए। विधवा का जीवन शून्य है। यम ने इसकी पतिपरायणता से प्रसन्न होकर वर माँगने के लिए कहा। सावित्री ने कहा—मेरे सास-ससुर अन्धे हैं तथा राज्यविहीन हैं, अतः उन्हें दृष्टि तथा राज्य पुनः वापस मिल जाय। यम ने कहा ऐसा ही होगा; किन्तु तुम वापस लौट जाओ। परन्तु सावित्री ने अपने सारयुक्त बातों से यमराज को प्रसन्न कर सौ सहोदर भाइयों की प्राप्ति का वर प्राप्त किया और पुनः वह यमराज के पीछे-पीछे जाने लगी। यमराज ने पीछे मुड़कर देखा तो सावित्री पीछे-पीछे चली आ रहीथी। तब यमराज ने सत्यवान् के प्राण को छोड़कर अन्य कोई वर माँगकर लौट जाने के लिए कहा। सावित्री ने सौ पुत्रों का वरदान माँगा; क्योंकि संसार में पुत्रहीन की कहीं कोई गति नहीं होती। यमराज ने वह वर भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकार किया और आगे बढ़ने लगे।

सावित्री ने आर्त्तवाणी में यमराज की अनेकप्र कार से स्तुति की और कहा—हे धर्मराज! इस राजपुत्र के बिना मेरे सास-श्वसुर दोनों अत्यधिक दुःखित होंगे और मेरा जीवन तो इनके बिना रहना सम्भव नहीं है, अतः उनका दुःख दूर करते हुए मेरी रक्षा करें, आप मर्यादापालक हैं। इन्हें आप जीवन-दान देकर जीवित करें। सावित्री के पातिव्रत-धर्म से यमराज पराजित हो उठे और उन्होंने प्रसन्न होते हुए सत्यवान् के जीवित हो जाने का अभीष्ट वर उसे दे दिया और मृत्यु तथा काल के साथ वे अन्तर्धान हो गये।

तब हर्षित होती हुई सावित्री उस स्थान पर आई जहाँ सत्यवान् का मृत देह पड़ा था। उसने देखा कि धीरे-धीरे उस शरीर में प्राण का संचार हो रहा है, धीरे-धीरे उसकी आँखें खुलने लगीं, शरीर में स्पन्दन तथा गति होने लगी। तदनन्तर प्राणवान् होकर सत्यवान् आँखों को खोलता-बन्द करता हुआ सावित्री से बोला—हे प्रिये! मुझे ऐसा लगा कि कोई पुरुष मुझे खींच रहा है, पता नहीं वह कहाँ गया? मुझे कैसी आज गहरी नींद आयी और इसी में सायंकाल भी हो गया है। आश्रम में माता-पिता कष्ट में होंगे, अतः शीघ्र ही वापस आश्रम चलो। दोनों आश्रम में आये जहाँ यमराज के वरदान से द्युमत्सेन तथा उनकी पत्नी आँखें पाकर बड़ी ही उत्कण्ठा से उनकी राह जोह रहे थे। आकर दोनों ने राजा और रानी को प्रणाम किया और वे सब प्रसन्न हो उठे। वह रात्रि उन सबने ऋषियों के साथ जंगल में ही बितायी। दूसरे दिन द्युमत्सेन ने अपना सारा राज्य प्राप्त कर लिया, और धर्मपूर्वक उसका पालन किया। समय पर सावित्री के १०० भाई हुए। इस प्रकार साध्वी सावित्री ने अपने पातिव्रत-धर्म के बल पर सत्यवान् के प्राणों को जीत लिया, अपने पितृकुल तथा पतिकुल दोनों का उद्धार कर अमर-कीर्ति पायी। ज्येष्ठ मास की अमावास्या को सावित्री ने यमराज से वर प्राप्त किया था, अतः इस दिन स्त्रियाँ वट-सावित्री व्रत रखकर सावित्री के चरित्र का अनुकरण करते हुए अखण्ड सौभाग्यफल प्राप्त करती हैं[1]।

१. मत्स्यपु० अध्याय 207-213

३५. हरिकेश-आख्यान

पूर्णभद्र नामक एक यक्ष शिव का अनन्य भक्त था तथा यक्षों के क्रूर आचरण से घृणा करता था। इसका हरिकेश नामक एक पुत्र था। पूर्णभद्र ने पुत्र को अनेक धार्मिक बातें बतायीं और तपस्या करने के लिए घर से निर्वासित कर दिया। हरिकेश ने वाराणसी में जाकर कठोर तप प्रारम्भ किया। इन्द्रियों को अपने वश में करता हुआ वह स्थाणुवत् शुष्क काष्ठ की भाँति तप में स्थिर हुआ। उसने एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या की। स्थाणुवत् हरिकेश पर चींटियों ने वल्मीक बना लिया और अपने तीखे मुखों से उसके रुधिर, मांस तथा त्वचा का भक्षण कर लिया। जब वह मात्र अस्थि-पंजर ही शेष रह गया तब देवी पार्वती ने शंकर को हरिकेश की तपस्या के बारे में विचार करने के लिए कहा। तदनन्तर शंकर ने पार्वती को, जहाँ यक्षपुत्र हरिकेश तपस्या कर रहा था, वहाँ ले जाकर उसके अस्थि-पंजर शरीर को दिखाया। दयामयी पार्वती जी ने शंकर से ऐसे भक्त की रक्षा करने तथा शीघ्र वर देने के लिए आग्रह किया। शंकर ने अपने भक्त हरिकेश को दिव्य दृष्टि दी, जिससे उसने गणों सहित भगवान् वृषभध्वज के दर्शन किये। भगवान् ने पुनः उसे दिव्य शरीर देकर वर माँगने के लिए कहा। हरिकेश ने चरणों में गिरते हुए अञ्जलि जोड़कर कहा—हे भगवन्! आपमें मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे। उन्होंने कहा—हे भक्तश्रेष्ठ! तुम जरा-मरण तथा सभी रोगों से रहित रहोगे, तुम मेरे गणों के अध्यक्ष रहोगे, दानी होकर पूज्य होओगे, क्षेत्रपाल होते हुए मेरे प्रिय बने रहोगे। इस प्रकार वाराणसी क्षेत्र के माहात्म्य तथा भगवान् शंकर की कृपा से हरिकेश ने अभिलषित फलों को प्राप्त किया[1]।

१. मत्स्यपु० 179/5-19, 80-100.

३६. हिरण्यकशिपु-आख्यान

सत्ययुग में दैत्यों में हिरण्यकशिपु नामक आदिपुरुष हुआ। यह कश्यप ऋषि तथा दक्ष प्रजापति की पुत्री दिति के संयोग से उत्पन्न हुआ था। इसने ग्यारह हजार वर्षों तक मौनव्रत धारण कर जल में रहकर कठिन तपस्या की। इसके शम-दम तथा तपस्या के नियम से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने दैत्यराज को वर माँगने के लिए कहा। हिरण्यकशिपु बोला—हे ब्रह्मन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे ऐसा वर दें कि मैं किसी भी मनुष्य, देवता, राक्षस, पिशाच आदि से न मारा जाऊँ, न किसी शाप से, न किसी अस्त्र-शस्त्र से, न दिन में न रात में, न जल में न स्थल में, न अन्तरिक्ष में मेरी मृत्यु हो। ब्रह्माजी 'तथाऽस्तु' कहकर चले गये।

अभीष्ट वर प्राप्त कर हिरण्यकशिपु उन्मत्त होकर आश्रमस्थ मुनियों तथा देवताओं को पीड़ित करने लगा और बलपूर्वक उसने देवलोक में अपना एकछत्र शासन कर लिया। देवगण त्रस्त होते हुए ऐसे उद्दण्ड भयंकर उत्पात मचानेवाले राक्षस के वध के लिए भगवान् विष्णु की शरण में गये। उन्होंने देवगणों की आर्त्त प्रार्थना को सुनकर नरसिंहरूप में अवतार लेकर उसका विनाश करूँगा, इस प्रकार से उन्हें आश्वस्त किया।

भगवान् जनार्दन नृसिंहरूप से तेजस्वी हिरण्यकशिपु के सभा-मण्डप में अवतरित हुए। पाँच योजन विस्तृत सभा-मण्डप के मध्य सहस्रों स्त्रियों से परिवृत हिरण्यकशिपु अद्वितीय सुन्दर राजसिंहासन में बैठा हुआ था। विश्वाची, प्रम्लोचा, चित्रलेखा, शुचिस्मिता, चारुकेशी, मेनका, उर्वशी आदि अप्सराएँ गन्धर्वगणों के साथ गीत-नृत्य में मग्न थीं, चारों तरफ सभी सभासद् बैठे हुए थे। इस प्रकार से भगवान् ने हिरण्यकशिपु के वैभव सम्पन्न सभास्थल को देखा।

हिरण्यकशिपु के पुत्र भक्तप्रवर प्रह्लाद ने दिव्य दृष्टि से भगवान् जनार्दन को नृसिंहरूप में भी पहचान लिया; किन्तु अन्य दानवगण तथा

स्वयं हिरण्यकशिपु भी वैसा रूप देखकर विस्मित हो उठा। प्रह्लाद ने कहा—'ऐसा अद्‌भुतरूप न कभी देखा हूँ, न सुना हूँ। यह अलौकिक दिव्य शरीर निश्चितरूप से दैत्यों का अन्त करने के लिए प्रगट हुआ है। इनके शरीर में सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है। प्रह्लाद के वचनों को सुनकर हिरण्यकशिपु ने दानवगणों को आज्ञा दी कि इस विचित्र रूपवाले व्यक्ति को पकड़ कर बाँध दो; किन्तु कालरूप नृसिंह भगवान् ने क्षणमात्र में दानवगणों की सभा को क्षत-विक्षत कर दिया, जिससे क्रोधित होकर हिरण्यकशिपु ने अनेक अस्त्र-शस्त्रों को एक साथ भगवान् पर छोड़ा, किन्तु भगवान् ने उन अस्त्रों के प्रभाव को विफल कर दिया। पुनः दोनों में भीषण युद्ध हुआ। हिरण्यकशिपु ने बिजली के सदृश कान्तिवाली प्रज्वलित घोर शक्ति का प्रयोग किया, जिसे भगवान् ने हुँकार से ही नष्ट कर दिया। तदनन्तर दैत्यराज ने अग्निवर्षा, प्रचण्ड वायु तथा दानवी माया के बल से भगवान् को पराजित करने के लिए अथक परिश्रम किया और उस दानवी माया को उन्होंने इस प्रकार नष्ट किया जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। अन्त में भगवान् ने ब्रह्मा के वर को बचाते हुए उसे पकड़ कर अपने घुटनों में रखकर, सुतीक्ष्ण नखों से विदीर्ण कर मार डाला, जिससे सम्पूर्ण जगत् आनन्दित हो गया तथा देवगणों ने भगवान् की स्तुति की[1]।



१. मत्स्यपु० अध्याय—160-162.

पुराण-कथा-कोष

विष्णु-पुराण

पुराण-कथा-कोष

(विष्णु-पुराण)

* * *

१. उषा-अनिरुद्ध का प्रणय-आख्यान

प्रह्लाद के वंश में बाणासुर नामक एक प्रतापी राजा था। शिव की आराधना से उसे दो हजार भुजाएँ तथा बहुत बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। बाणासुर की उषा नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। उसने उषा को विद्या प्राप्त कराने की इच्छा से पार्वती जी के पास रख छोड़ा था। पार्वती जी की कृपा से उषा बहुत थोड़े ही समय में सभी कलाओं में प्रवीण हो गयी।

एक बार उषा ने शंकर के साथ पार्वतीजी को क्रीडा करती हुई देखकर स्वयं भी पति के साथ रमण करने की इच्छा की। तब सर्वान्तर्यामी पार्वती जी ने उस सुकुमारी से कहा—'हे कन्ये ! तुम अधिक सन्तप्त न होओ, यथासमय तू अपने पति के साथ रमण करोगी। वैशाख शुक्ला द्वादशी की रात्रि को जो पुरुष तुझे स्वप्न में दिखाई देगा, वही तेरा प्रियतमरूप में वरण करेगा।' ऐसा कहकर उषा को विदा किया।

तदनन्तर एक दिन उषा राजपुरुषों से रक्षित अपने महल में सोयी हुई थी। रात्रि में स्वप्न में उसे एक सुन्दर राजकुमार दिखाई दिया, जो अनुरागवश उससे मधुर वार्तालाप कर रहा था, किन्तु जागने के बाद उस राजकुमार के न दिखाई देने पर वह प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा से व्याकुल हो उठी। उसकी सखी चित्रलेखा ने उषा की दशा देखकर सारा वृत्तान्त उसी से मालूम किया और स्वप्न में देखे हुए युवक को ढूँढ़ने के लिए उसने सभी देव, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर तथा यक्षगणों का चित्र बनाकर एक-एक करके उषा को दिखाया; किन्तु उसने 'यह नहीं है', 'यह नहीं है' कहकर से सबको नकार दिया। फिर चित्रलेखा ने श्रीकृष्ण, बलभद्र,

प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का चित्र बनाकर उसे दिखाया। प्रद्युम्नजी के पुत्र अनिरुद्ध के चित्रफलक को देखकर लज्जावश उषा ने अपनी दृष्टि फेर ली। चित्रलेखा उषा के भाव को समझ गयी और कहने लगी—हे सखि! देवी पार्वती ने कृष्ण के पौत्र को ही तेरा पति निश्चित किया है। अनिरुद्ध नामक यह किशोर कामदेव से भी अधिक सुन्दर है। यद्यपि इसको प्राप्त कर लेना कठिन है, तथापि मैं द्वारिका जाकर इसे लाने का प्रयास करूँगी, तुम इस बात को गुप्त ही रखना।

तदनन्तर चित्रलेखा अपने योगबल से अनिरुद्ध को द्वारका से ले आयी और उषा तथा अनिरुद्ध अन्तःपुर में विलास करने लगे। अन्तःपुर-रक्षकों द्वारा यह वृत्तान्त जानकर बाणासुर क्रोधित हो गया और बहुत बड़ी सेना लेकर अनिरुद्ध को मारने की इच्छा से आया; किन्तु दैवी-शक्ति-सम्पन्न अनिरुद्ध जी ने सारी सेना को कुछ ही क्षणों में मार भगाया। तदनन्तर क्रोधित बाणासुर ने मायापूर्वक नागपाश से अनिरुद्ध जी को बाँध लिया और कारागार में बन्द कर दिया।

द्वारकापुरी में अनिरुद्ध जी के हरण तथा बाणासुर द्वारा नागपाश में बद्ध कर लिये जाने का समाचार जानकर भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा यादवों की सेना लेकर बाणासुर की राजधानी शोणितपुर आये और लीलापूर्वक दैत्य-सेना का विनाश करने लगे। तब भगवान् शङ्करजी का श्रीकृष्णजी के साथ घनघोर युद्ध हुआ। भगवान् शङ्कर तथा श्रीकृष्ण के युद्ध को देखकर देवगण प्रलयकाल की कल्पना करने लगे। अन्त में श्रीकृष्ण जी तथा बलभद्र जी ने बाणासुर की सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब बाणासुर बलभद्र को छोड़कर श्रीकृष्णजी से युद्ध करने लगा। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से बाणासुर की सहस्रों भुजाओं को काट डाला और ज्योंही उस पर अन्तिम प्रहार के लिए चक्र को घुमाने लगे, त्योंही भक्तवत्सल शङ्करजी कहने लगे—हे अच्युत! आप प्रसन्न होइए, मैंने इस बाणासुर को अभयदान दिया है। अतः हे प्रभो! मेरे वचन को मिथ्या मत बनाइये। यह बाणासुर तो केवल मेरा आश्रय पा जाने से इतना अहंकारी हो गया है, इसमें इसका कोई दोष नहीं है। अतः आप इसे क्षमा-दान दें। तब भगवान् ने शङ्करजी के वचनों को अवितथ बनाते हुए बाणासुर को अभयदान दिया। तदनन्तर अनिरुद्ध

तथा उषा को लेकर श्रीकृष्ण जी द्वारिकापुरी आये और वहाँ उन दोनों का विवाह कराकर सबको आनन्दित किया[1]।

२. कण्डु ऋषि तथा प्रम्लोचा का प्रणय-आख्यान

प्राचीनकाल में वेद-वेत्ताओं में अग्रगण्य कण्डु नामक एक ऋषि थे। उन्होंने गोमती नदी के परम रमणीक तट पर घोर तप करना प्रारम्भ किया। उनकी तपस्या से भयभीत होकर इन्द्र ने उन्हें तपोभ्रष्ट करने के लिए प्रम्लोचा नाम की एक अतिसुन्दरी अप्सरा को मुनि के पास भेजा। तब प्रम्लोचा ने अपने हाव-भाव तथा मधुर विलासों से मुनि को तपोमार्ग से विचलित कर दिया। मोहित तथा क्षुब्ध हुए मुनि कण्डु ने बहुत दिनों तक विषयासक्त चित्त से उस अप्सरा के साथ रमण किया।

अपने प्रयोजन को सफल जानकर एक दिन प्रम्लोचा ने मुनि से स्वर्ग जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु मुनि ने उससे कुछ समय और ठहर जाने के लिए कहा। सौ वर्ष बीत जाने पर पुनः प्रम्लोचा ने वही बात दुहरायी; किन्तु कामवेग से पीड़ित ऋषि ने फिर रुक जाने के लिए कहा। इस प्रकार जब-जब वह सुन्दरी देवलोक जाने की बात कहती थी, तब-तब कण्डु ऋषि थोड़े समय और रुक जाने के लिए कहते थे। इस प्रकार उन्होंने नौ सौ सात वर्ष, छः मास तथा तीन दिन तक निरन्तर अप्सरा के साथ अभिरमण किया।

एक दिन मुनिवर बड़ी शीघ्रता से अपनी कुटी से बाहर निकलने लगे तो प्रम्लोचा ने पूछा—'आप कहाँ जा रहे हैं ?' तब उन्होंने कहा—'हे शुभे ! दिन अस्त हो रहा है, इसलिए मैं सन्ध्योपासना करूँगा, नहीं तो नित्यक्रिया नष्ट हो जायेगी।' तब हँसकर उसने कहा—'हे धर्मज्ञ ! क्या आज ही आपका दिन अस्त होने जा रहा है ? इतने वर्षों तक आपकी नित्यक्रिया नष्ट नहीं हुई ?' तब ऋषि ने कहा—हे भद्रे ! क्यों

1. वि० पु० 5/32/11-30/5/33/1-53

परिहास करती हो, आज प्रातः ही तो तुम इस नदी तट पर आयी हो, मुझे तो प्रतीत होता है कि मैं तेरे साथ केवल एक ही दिन रहा हूँ।

तत्पश्चात् प्रम्लोचा द्वारा पुनः सत्य बताये जाने पर मुनि को अपनी दशा का भान हुआ और वे स्वयं आत्मग्लानि से द्रवित हो अपने को अनेक प्रकार से धिक्कारने लगे और पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए कहने लगे—'आज मेरा तप नष्ट हो गया, इस स्त्री के मोहपाश तथा कामदेव ने मेरा सर्वस्व लूट लिया। नरक-गमन के मार्गरूप इस स्त्रीप्रसंग को धिक्कार है। अरी पापिनि ! तुम्हारा कार्य पूरा हो गया। तुम्हें इन्द्र से पुरस्कार भी प्राप्त होगा, जब तक मैं शाप न दे डालूँ; तुम शीघ्र ही यहाँ से भाग जाओ।'

क्रोधित मुनि कण्डु की फटकार से भयभीत तथा पसीने से पूर्णतः आसिक्त वह प्रम्लोचा आकाश-मार्ग से जाने लगी। अपने पसीने को वह वृक्षों के पत्तों से पोंछती चली गयी। ऋषि का सत्त्व ही पसीने के रूप में बाहर निकल रहा था, स्वेद-रूप उस गर्भ को वृक्षों ने ग्रहण किया, वायु ने उसे एकत्रित किया तथा सोम ने अपनी शीतल किरणों से उसका पोषण किया। इससे वह गर्भ धीरे-धीरे बढ़ता गया। कालान्तर में वृक्षों से प्राप्त उस गर्भ ने एक सुन्दर कन्या का रूप धारण किया, जो मारिषा इस नाम से विख्यात हुई। यही मारिषा प्राचीन वंशज प्रचेताओं की पत्नी बनी और उसने दक्ष-प्रजापति जैसे तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया[1]।

३. कालयवन-आख्यान

गार्ग्य नामक एक अत्यन्त तेजस्वी ऋषि थे। एक बार यादवों की सभा के मध्य में उनका अपमान हुआ। तब कुपित होकर महर्षि ने यादवों से बदला लेने के लिए भगवान् शङ्कर की आराधना की। केवल लोहचूर्ण का भक्षण करके उन्होंने बारह वर्ष तक कठिन तपस्या की। तब प्रसन्न होकर महादेव जी ने उन्हें पुत्र-प्राप्ति का वरदान दिया। तब महर्षि गार्ग्य ने निःसन्तान यवनराज के अनुरोध पर उसकी स्त्री से प्रसङ्ग किया। फलस्वरूप उन्हें भौंरे के समान कृष्णवर्ण का एक पुत्र प्राप्त

---

1. वि० पु० 1/15/11-74

हुआ। वह यवनराज 'कालयवन' नामक उस पुत्र को राज्यपद पर अभिषिक्त कर वन को चला गया।

वीर्यमदोन्मत्त कालयवन, नारद जी के कहने पर हजारों हाथी, घोड़े और रथों के सहित सहस्रों म्लेच्छ सेना लेकर यदुवंशियों के प्रति क्रुद्ध होता हुआ मथुरापुरी पर आक्रमण के लिए उद्यत हुआ।

कालयवन को बहुत बड़ी सेना लेकर युद्ध के लिए आया जानकर भगवान् कृष्ण ने यादवों के रक्षार्थ बारह योजन भूमि के परिमाण में एक विशाल दुर्ग का निर्माण करवाया, जो द्वारकापुरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्द्र की अमरावतीपुरी के समान द्वारकापुरी अनेकों उद्यान, सरोवर, परिघा तथा सुन्दर महलों से सुशोभित थी। उस पुरी में भगवान् श्रीकृष्ण मथुरावासियों को स्थित कर स्वयं मथुरा आकर दुष्ट कालयवन के पास आये। उसके साथ युद्ध करते-करते भगवान् श्रीकृष्ण एक महागुफा में आये जहाँ राजा मुचुकुन्द देवताओं से वर मांगकर दीर्घ निद्रा में सोये हुए थे। भगवान् का पीछा करता हुआ वह कालयवन भी उसी गुहा में प्रविष्ट हो गया और सोये हुए मुचुकुन्द को ही श्रीकृष्ण समझकर क्रोधित होकर उसने एक लात मारी। उस आघात से असमय में ही मुचुकुन्द की निद्रा खुल गयी और उसकी क्रोधाग्निपूर्णदृष्टि कालयवन पर पड़ी और वह तत्क्षण ही भस्म होकर राख हो गया। पापी कालयवन को दग्ध कर चुकने पर मुचुकुन्द ने भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन किया। प्रसन्न होते हुए उसने अनेक प्रकार से उनकी वन्दना कर अन्त में परमपद को प्राप्त किया[1]।

४. कालिय-दमन-आख्यान

एक दिन श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों के साथ यमुना नदी के तट पर क्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय उन्हें विषाग्नि से संतप्त कालिया नाग का एक भयङ्कर कुण्ड दिखलाई पड़ा। उस कालियनाग की विषाग्नि तथा फणों से निकलते भयंकर फेन से नदी के किनारे के वृक्ष झुलस गये थे तथा अनेक गौएँ उस विषाक्त जल को पीकर मर गयी थीं। तब श्रीकृष्ण ने

1. वि० पु० 5/23/1–23

सोचा मुझे इस कालियनाग का दमन करना चाहिए, जिससे व्रजवासी लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक रह सकें। ऐसा सोचकर श्रीकृष्ण यमुनाजी के तट पर अवस्थित एक विशाल कदम्ब वृक्ष की ऊंची डाल पर चढ़कर बड़े वेग से कुण्ड में कूद पड़े। उनके कूदने से आलोडित जल से क्षुब्ध होकर नागराज कालिय अपने फणों से विष उगलता हुआ बाहर निकला। उसके साथ ही नागपत्नियाँ तथा और भी अनेक सर्प बाहर निकल पड़े। वे सभी कृष्ण को घेरकर विषाग्नि-सन्तप्त फणों से उनको काटने के लिए आगे बढ़ने लगे।

इधर एकाएक श्रीकृष्णजी को यमुनाजी में कूदते तथा उन्हें नागों के फणों से घिरा देखकर सभी लोग शोक से व्याकुल होकर व्रज-वासियों के पास इस समाचार की सूचना देने के लिए आये। उनके वचनों को सुनकर माँ यशोदा तथा सभी गोपियाँ वहाँ आयीं। बलरामजी द्वारा बहुत आश्वस्त किए जाने पर भी वे सभी रोने-चिल्लाने लगीं। तब बलराम जी ने भगवान् से अपना वास्तविकरूप प्रकट करने को कहा, जिससे शीघ्र ही वे कालिय का विनाश कर पुनः सभी को दर्शन देकर कृतार्थ करें। उसी समय भगवान् ने एकाएक नागराज के बन्धन से अपने को छुड़ाकर, शीघ्र ही कालिय के फणों पर नाचते हुए, मधुर मुस्कान के साथ सभी को दर्शन दिया। भगवान् के भार को न सहन करता हुआ कालिय-नाग अपने फणों से खून उगलने लगा। नागराज की यह दशा देखकर सभी नागपत्नियाँ भगवान् के सम्मुख हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगीं। कालियनाग भी क्षमा-याचना करने लगा। तदनन्तर श्रीकृष्ण जी ने कहा—हे नागराज ! अब तुझे इस यमुना-जल में नहीं रहना चाहिए। तू शीघ्र ही अपने पुत्र और परिवार के साथ अपने पूर्वस्थान समुद्र में चला जा। तुम्हारे मस्तक पर मेरे चरण चिन्हों को देखकर समुद्र में रहते हुए भी सर्पों का शत्रु गरुड़ तुझ पर प्रहार नहीं करेगा। भगवान् के ऐसे वचनों को सुनकर प्रणाम कर नागराज अपने कुटुम्ब के साथ समुद्र की ओर चला गया।

नागराज के चले जाने पर भगवान् श्रीकृष्णजी जल से बाहर निकले। माँ यशोदा ने प्रफुल्लित होकर उनका आलिङ्गन किया। तदनन्तर अपने उत्तम चरित्रों के कारण गोपियों से गीयमान और गोपों से प्रशंसित होते हुए श्रीकृष्ण व्रज में आकर पूर्ववत् लीलाएँ करने लगे[1]।

1. वि० पु० 5/7/1-83

५. कुब्जोपाख्यान

एकबार श्रीकृष्णजी राजमार्ग पर जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक नवयौवना कुब्जा स्त्री दिखलाई पड़ी जो अपने हाथ में एक अनुलेपन-पात्र लिए हुए थी। भगवान् ने विलासपूर्वक कहा—अरे सुमुखि ! तुम्हारे इस पात्र में क्या है तथा इसे कहाँ ले जा रही हो ? अनुरागिणी कुब्जा ने आकृष्टचित्त होकर मधुर स्वर में कहा—'हे कान्त ! मैं अनेकवक्रा नामक कंस की दासी हूँ तथा उसके शरीर में उपलेपन के लिए यह सुगन्धित द्रव्य इस पात्र में लिए उनके पास जा रही हूँ; किन्तु आज मैं आपको देखकर अत्यन्त मोहित हो चुकी हूँ। ऐसा कहकर उसने प्रसन्न होकर वह लेपनी-द्रव्य भगवान् के शरीर में लगा दिया।

भगवान् कृष्ण ने उसकी आन्तरिक भक्ति से प्रसन्न होकर उसका कुबड़ापन ठीक कर दिया। उनके स्पर्श से ही कुब्जा का शरीर अत्यन्त सुन्दर हो गया। भगवान् कृष्ण ने उसके घर जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया[1]।

६. कुवलयापीड-वध-आख्यान

एक बार दुष्ट कंस ने कृष्ण तथा बलराम जी के वध के लिए अपनी रंगभूमि में धनुर्भङ्ग का आयोजन किया तथा कृष्ण एवं बलराम को भी उसमें आमन्त्रित किया। रंगभूमि में उसने सभी सभासदों तथा नगर-वासियों को बुला-बुलाकर बैठाया था, जिससे सब लोगों के सामने ही इन दोनों का अनिष्ट कर सकूँ। अतः उसने रंगभूमि के द्वार प्रदेश में ही कुवलयापीड नामक एक हाथी को महावत के साथ स्थित करवा दिया, जिससे वह अपने पैरों से उनको कुचल सके। ज्योंही उन कुमारों ने रंगभूमि के द्वार पर प्रवेश करना चाहा, महावत की प्रेरणा से हाथी का वेष बनाये वह राक्षस उन्हें मारने के लिए बड़े वेग से दौड़ा, किन्तु भगवान् मधुसूदन ने उसकी सूँड़ पकड़कर घुमाना प्रारम्भ किया और उसके दाँतों को उखाड़कर महावत पर प्रहार किया। उस चोट से वह

1. वि० पु० 5/20/1-3

महावत वहीं पर गिर पड़ा। पुनः उन्होंने रोषपूर्वक अतिवेग से उछलकर उस हाथी के मस्तक पर बायें पाँव से आघात किया, जिससे वह कुवलयापीड नामक राक्षस वहीं पर मर गया। उसके दोनों दाँतों को हाथ में पकड़े हुए श्रीकृष्ण तथा बलराम जी समस्त पुरवासियों के लिए आनन्ददायक हुए[1]।

७. केशि-वध-आख्यान

एक बार कंस द्वारा भेजा हुआ महाबली केशी राक्षस कृष्ण के वध की इच्छा से एक भयंकर घोड़े का रूप धारण कर वृन्दावन में आया। वह अपने खुरों से पृथ्वीतल को खोदता हुआ बड़े वेग से गोपों की ओर दौड़ा। उस अश्वरूप दैत्य के हिनहिनाने के शब्द से भयभीत होकर सभी गोपी-गोप श्रीकृष्ण की शरण में आये। श्रीकृष्ण उन्हें आश्वस्त कर उस दुष्ट दैत्य के सामने आये। तब उन्हें देखकर अश्वरूपधारी केशी ने क्रोधित होकर उनको निगल जाने के लिए अपना मुँह फैलाया। किन्तु भगवान् ने अपनी बाँह को फैलाते हुए उसके मुँह में डाल दिया। केशी के मुँह में प्रविष्ट भगवान् कृष्ण की बाँह से टकराकर उसके समस्त दाँत टूटकर बाहर गिर पड़े। केशी के देह में प्रविष्ट भुजा बढ़ने लगी, होठों के फट जाने से वह फेनयुक्त रुधिर वमन करने लगा और उसकी आखें बाहर निकल आयीं। मल-मूत्र छोड़ता हुआ वह पृथ्वी पर लोटने लगा और अन्त में खण्ड-खण्ड होता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा और निश्चेष्ट हो गया। केशी के मारे जाने से विस्मित हुए गोपगण प्रसन्न होकर भगवान् की स्तुति करने लगे[2]।

८. केशिध्वज और खाण्डिक्य-आख्यान

प्राचीनकाल में धर्मध्वज जनक नामक एक राजा थे। उनके अमित-ध्वज और कृतध्वज नामक दो पुत्र हुए। इनमें कृतध्वज सर्वदा अध्यात्म-चिन्तन में रत रहता था। कृतध्वज का पुत्र केशिध्वज तथा अमितध्वज का पुत्र खाण्डिक्य था। खाण्डिक्य कर्ममार्ग में निपुण था और केशिध्वज

1. वि० पु० 5/20/19-81
2. वि० पु० 5/16/1-17

अध्यात्म-विद्या का विशेषज्ञ था। वे दोनों परस्पर एक दूसरे को पराजित करने की चेष्टा में लगे रहते थे। अन्त में कालक्रम से केशिध्वज ने खाण्डिक्य को राज्यच्युत कर दिया। तब खाण्डिक्य ने अपने पुरोहित तथा मन्त्रियों को लेकर वन को प्रस्थान किया।

एकदिन जब राजा केशिध्वज यज्ञानुष्ठान में संलग्न था, उनकी धर्मधेनु को निर्जन वन में एक भयङ्कर सिंह ने मार डाला। राजा ने ऋत्विजों से गो-मरण के प्रायश्चित्त के विषय में पूछा। उन्होंने अनभिज्ञता प्रकट की। तब राजा कशेरु के पास गये। कशेरु ने भृगुपुत्र शुनक के पास भेजा। भृगुपुत्र शुनक ने कहा—हे राजन्! इस विषय में केवल खाण्डिक्य ही आपको बता सकते हैं। तब राजा केशिध्वज कृष्णमृग-चर्म धारण कर रथपर आरूढ़ होकर जहाँ वन में महामति खाण्डिक्य रहते थे, आये; किन्तु खाण्डिक्य ने अपने शत्रु को आता देखकर क्रोधित हो धनुष पर बाण चढ़ा लिया। केशिध्वज के आगमन-प्रयोजन को जानकर कहा—तुम्हें जो कुछ पूछना हो पूछ लो, मैं उसका उत्तर दूँगा। तब केशिध्वज ने सम्पूर्ण वृत्तान्त यथावत् बताकर प्रायश्चित्तविधान पूछा। खाण्डिक्य ने सारा विधान विधिपूर्वक बता दिया। वापस आकर केशिध्वज ने अपना यज्ञानुष्ठान पूर्ण किया, किन्तु फिर भी उनका चित्त शान्त नहीं हुआ। बहुत काल तक विचार करने के अनन्तर उन्हें यह बोध हुआ कि मैंने खाण्डिक्य से शिक्षा ग्रहण की है; किन्तु गुरुरूप में उन्हें दक्षिणा नहीं दी है। इसी कारण यह अशान्ति हो रही है। वह वन में खाण्डिक्य के पास गया और यथेच्छ दक्षिणा माँगने के लिए निवेदन किया। तब खाण्डिक्य ने कहा—'आप अध्यात्मज्ञानरूप परमार्थ-विद्या में परम कुशल हैं, अतः यदि गुरुदक्षिणा देना ही चाहें तो जो कर्म समस्त क्लेशों की शान्ति करने में समर्थ हों, वह बतलाइये।' तब केशिध्वज ने बहुत विस्तार से तत्त्वज्ञान तथा योगविद्या के विषय में बताया कि मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मद ही है। विषय का संग करने से वह बन्धनकारी और विषय-शून्य होने से मोक्षकारक होता है। अतः चित्त को विषयों से हटाकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिए।

खाण्डिक्य को इस प्रकार उपदेश देकर तथा उनसे पूजित होता हुआ राजा केशिध्वज अपने नगर में चला गया और खाण्डिक्य भी अपने को कृतार्थ मानकर पुत्रादि को राज्य सौंपकर योगाभ्यास तथा ब्रह्मचिन्तन के लिए निर्जन वन की ओर चला गया। अन्त में राजा खाण्डिक्य परब्रह्म में लीन हुए तथा राजा केशिध्वज प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्यन्तिक सिद्धि को प्राप्त हुए[1]।

६. कंसवधोपाख्यान

एकबार जब कंस द्वारा आयोजित रणभूमि में श्रीकृष्ण जी ने चाणूरादि राक्षसों को मार गिराया था, उस समय दुराचारी कंस अत्यन्त क्रोधित होकर उनके वध के लिए उद्यत हुआ; किन्तु उसी समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने हँसते हुए कंस के मंच पर चढ़कर उसकें केशों को पकड़ा और खींचकर पृथिवी पर पटक दिया। उसका मुकुट, जिसका उसे बहुत गर्व था, अलग गिर पड़ा। तब श्रीकृष्णजी उछलकर कंस के ऊपर कूद पड़े। सम्पूर्ण जगत् के आधार भगवान् के भार से दबे हुए कंस ने उसी समय प्राण त्याग दिया। कंस के मारे जाने पर महाबली उसका भाई सुमाली मारने को दौड़ा; किन्तु बलभद्र जी ने उसे लीलापूर्वक मार डाला।

रङ्गभूमि में उपस्थित सारी प्रजा हर्ष से प्रफुल्लित हो उठी। देवगण उन आततायियों के मारे जाने से हर्षित होकर आकाश से पुष्पवृष्टि करने लगे[2]।

१०. चाणूर और मुष्टिक-आख्यान

चाणूर और मुष्टिक दोनों कंस के सैनिक थे। एक बार कंस ने चाणूर और मुष्टिक को मल्लयुद्ध द्वारा श्रीकृष्ण और बलराम को मारने के लिए आदेश दिया। उसी समय कृष्ण और बलराम उसके रङ्गशाला में आ पहुँचे। उन्हें देखकर चाणूर और मुष्टिक ने उनका उपहास किया

1. वि० पु० 6/6/7-50/6/7/1-106
2. वि० पु० 5/20/82-91.

और जोर से ललकारा। तब दोनों ही कुमार रङ्गशाला में कूद पड़े और श्रीकृष्ण के साथ चाणूर का तथा बलराम के साथ मुष्टिक का मल्लयुद्ध होने लगा। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने लीलापूर्वक चाणूर को पकड़कर अत्यन्त वेग से आकाशमण्डल में चक्राकार घुमाते हुए पृथ्वी पर पटक दिया और वह निश्चेष्ट होकर धराशायी हो गया। बलराम जी ने भी मुष्टिक को मुष्टि प्रहार से ऐसा मारा कि वह धराशायी हो गया। इस प्रकार कृष्ण एवं बलराम के द्वारा चाणूर और मुष्टिक दोनों का वध कर दिया गया। उनके मारे जाते ही अन्य योद्धा भाग गये[1]।

११. जड़भरत-आख्यान

राजा नाभि के वंश में पृथिवीपति ऋषभदेव को भरत नामक पुत्र हुआ। ऋषभदेव धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान करने के अनन्तर वीरपुत्र भरत को राज्याधिकार सौंपकर तपस्या के लिए पुलहाश्रम को चला गया। राजा भरत निरन्तर योगयुक्त होकर भगवान् वासुदेव में चित्त लगाये शालिग्राम-क्षेत्र में रहा करता था। उसने अहिंसा आदि सभी गुण और मन के उत्कर्ष में परम लाभ प्राप्त कर लिया था। वह निरन्तर भगवन्नाम का चिन्तन तथा भगवद्पूजा में ही लीन रहा करता था।

एकदिन वह स्नान करने के लिए गण्डकी नदी के किनारे पहुँचा। वहाँ उन्हें असमय में ही गर्भ से छूटा एक मृग-शावक दिखाई दिया, जो नदी की लहरों में इधर-उधर बह रहा था। करुणावश तपस्वी भरत उस मृगछौने को अपने आश्रम में ले आया और नित्यप्रति उसके पालन-पोषण में लगा रहने लगा। धीरे-धीरे मृगशावक बड़ा होकर इधर-उधर भागने लगा। मृगशावक के उस क्रीडा-चाञ्चल्य को देखकर भरत का मन भी उसी मृग में आसक्त हो गया। जिस भरत ने सारा राज-पाट, बन्धु-बान्धव छोड़ दिया, आज वही भरत एक मृगछौने की ममता से निरन्तर व्याकुल रहने लगा और उसकी समाधि भंग हो गयी।

1. वि० पु० 5/20/29-81

एकबार वह मृगशावक अपने सजातीय झुण्ड में मिलकर बहुत दूर चला गया और फिर वापस नहीं आया। शोकातुर भरत भी उसी मृगशावक का चिन्तन करता हुआ कालकवलित हो गया। मृगभावना दृढ़ हो जाने के कारण वह पुनः मृग की योनि को प्राप्त हुआ; किन्तु उन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण बना रहा। कालान्तर में जब मृगशरीर भी छूट गया तव उन्होंने सदाचार-सम्पन्न योगियों के पवित्र ब्राह्मणकुल में जन्म ग्रहण किया। इस जन्म में भी उन्हें अपने पिछले जन्मों का पूर्ण स्मरण होता रहता था। जन्म से आत्मज्ञान सम्पन्न होने के कारण वह सदा जगत् के प्रपञ्चों से विरक्त रहा करता था। वह किसी से न बोलता था, न बात करता था। लोगों के द्वारा कुछ पूछे जाने पर बहुत समय वाद कुछ अस्पष्ट तथा असंस्कृत वचनों को बोलता था। निरन्तर मैला-कुचैला शरीर, मलिनवस्त्र और दुर्गन्धयुक्त होने से वह सदा अपमानित होता रहता था। केवल जड़वत् व्यवहार करता था। इसीसे वह जड़भरत कहलाने लगा। उसके बन्धु-बान्धव उसका इस प्रकार का स्वभाव देखकर उससे कठिन से कठिन कार्य करवाते थे। वह भी कर्म में जड़वत् निश्चेष्ट होने के कारण आहार-मात्र मिल जाने से ही कार्यों में प्रवृत्त हो जाता था। इस प्रकार वह नित्य परमार्थ-चिन्तन करता हुआ विक्षिप्त की तरह इधर-उधर भ्रमण किया करता था।

तदनन्तर एक दिन सौवीरनरेश भगवान् कपिलदेव के पास, 'आत्मतत्त्व का ज्ञान कैसे हो तथा संसार में मनुष्यों का श्रेय किसमें है?' इस विषय में पूछने के लिए जाने की सोच रहे थे; किन्तु पालकी ढोने के लिए एक आदमी कम था। संयोग से पागलों के समान घूमते हुए जड़भरत वहाँ से निकले। राजा ने उसकी वेश-भूषा तथा जड़मतित्व को देखकर उसे चौथे कहार के रूप में नियुक्त कर प्रस्थान किया; किन्तु मार्ग में अन्य कहारों से इनकी गति में विषमता होने पर तथा राजा द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर जड़भरत ने बहुत विस्तार से राजा को आत्मा तथा परमात्मा के विषय में बोध कराया। राजा उनके अध्यात्मज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए और विनयावनत हो प्रणाम कर अपने कर्मों के लिए क्षमा माँगने लगे। पुनः जड़भरत द्वारा तत्त्वज्ञान को समझते

हुए सौवीरनरेश परमार्थदृष्टि का आश्रय लेकर भेद-बुद्धि से परे होकर वापस चले गये और ब्राह्मण भरत भी इच्छानुसार इधर-उधर भ्रमण कर अन्त में बोधयुक्त होने से मुक्तिपद को प्राप्त हुए[१]।

१२. जरासन्ध-आख्यान

भगवान् श्रीकृष्णजी द्वारा कंस के मार दिये जाने पर मगध प्रदेश का राजा जरासन्ध अत्यन्त क्रोधित होकर अपने पुत्रियों, अस्ति-प्राप्ति के स्वामी कंस को मारने वाले श्रीहरि को यादवों सहित मारने की इच्छा से मथुरा पर आक्रमण किया। मगधेश्वर जरासन्ध ने तेईस अक्षौहिणी सेना के साथ आकर मथुरा को चारों ओर से घेर लिया।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी बलभद्र के साथ यादवों की थोड़ी-सी सेना लेकर घनघोर युद्ध करने लगे। भगवान् के स्मरण करते ही कौमोदकी नाम की गदा, शार्ङ्ग धनुष और अक्षयबाणयुक्त दो तरकस आकाशमण्डल से आकर उपस्थित हो गये। इसी प्रकार बलभद्र जी के पास उनका प्रिय अस्त्र हल तथा सुनन्द नामक मूसल भी आ गया।

युद्ध में उन दोनों ने सेना-सहित मगधराज दुष्ट जरासन्ध को पराजित कर दिया, किन्तु भागता हुआ जरासन्ध कुछ समय के अनन्तर पुनः उतनी ही सेना लेकर युद्ध को उद्यत हुआ। पुनः पराजित होकर वह भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार मगधराज जरासन्ध ने भगवान् से अठारह वार बड़ी-बड़ी सेना लेकर युद्ध किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उसे युद्ध में पराजित करते हुए छोड़ देते थे। बलभद्र द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा—हे सखे! पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही हम लोगों ने अवतार ग्रहण किया है अतः इसे छोड़ दिया जाय ताकि यह पृथ्वी पर से सारे आततायियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर ले आये और हम उन सबका नाश कर पृथ्वी के भार को कम करें[२]।

---

१. वि० पु० 2 अध्याय 13-14

२. वि० पु० 5/22/1-18

१३. ज्यामघ-आख्यान

यदुवंशी राजाओं में ज्यामघ एक अत्यन्त पराक्रमी राजा था। इसकी पत्नी का नाम शैव्या था, जो आज भी अपनी यशःकीर्त्ति से अमर है। राजा को कोई सन्तान न थी, किन्तु राजा ने शैव्या के भय से दूसरी शादी भी नहीं की।

एकबार युद्धस्थल पर सभी शत्रुओं को जीतकर आते समय मार्ग में राजा को अत्यन्त भीत, कातरदृष्टि से देखकर रोती हुई एक कन्या दिखाई दी। उसके अनुपम सौन्दर्य को देखते ही राजा उसपर अनुरक्त हो गया और सोचने लगा—शायद सन्तान की कारणरूपा इस कन्यारत्न को विधाता ने ही इस समय यहाँ भेजा है। ऐसा सोचकर राजा कन्या के पास गया और उसे रथ में बिठाकर अपनी पत्नी शैव्या की अनुमति के लिए उसके पास पहुँचा। शैव्या ने पति के वामभाग में बैठी हुई एक कन्या को देखकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक राजा से उसके विषय में जिज्ञासा प्रकट की। राजा निरुत्तर सा हो गया और भय से उसके मुँह से निकल पड़ा कि—'यह तो मेरी पुत्रवधू है'। तब शैव्या ने कहा—मेरे तो कोई पुत्र हुआ नहीं है और आपकी कोई दूसरी स्त्री भी नहीं है; फिर आपदे इसे पुत्रवधू के रूप में कैसे स्वीकार किया? तब राजा ने अपनी असम्बद्ध बात के सन्देह को दूर करने के लिए कहा—'तुम्हारे जो पुत्र होगा उस भावी शिशु की मैंने पहले से ही यह भार्या निश्चित कर दी है। यह सुनकर रानी ने मधुर मुस्कान के साथ 'ऐसा ही हो' कहा।

अत्यन्त विशुद्ध लग्न में पुत्र सम्बन्धी उन दोनों में बात होने से तथा वार्तालाप के प्रभाव के कारण गर्भधारण के सर्वथा अयोग्य भी शैव्या को कालान्तर में विदर्भ नामक एक अति तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति हुई और विदर्भ के साथ ही उस पुत्रवधू का विवाह हुआ[१]।

---

१. वि० पु० 4/12/13-45

१४. द्विविद-वध—आख्यान

द्विविद नामक एक अति बलशाली वानरश्रेष्ठ दैत्यराज नरकासुर का मित्र था। जब भगवान् कृष्ण द्वारा नरकासुर मार दिया गया तो दुष्ट द्विविद भी देवद्रोही बन गया। उसने मन ही मन यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं मर्त्यलोक का क्षय कर दूँगा और यज्ञ-यागादि का विध्वंस करते हुए देवताओं से अपने मित्र के वध का बदला लूँगा' ऐसा निश्चय कर वह दुष्ट बन्दर स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में अनेक प्रकार से दुराचार करने लगा।

एकदिन श्री बलभद्रजी रैवतोद्यान में महाभागा रेवती तथा अन्य रमणियों के साथ केलि-क्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय वह द्विविद वानर भी घूमते-घूमते वहाँ पहुँचा और उसने हलधर जी का हल तथा मूसल लेकर उनके सामने ही उनकी नकल करने लगा तथा रमणियों को चिढ़ाने लगा। उसके इस अनैतिक आचरण से कुपित होकर रोषपूर्वक बलभद्र जी ने अपनी मुष्टि से अतिवेग से उसके सिर में प्रहार किया जिससे रुधिर वमन करता हुआ वह दुष्ट वानर निर्जीव होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

द्विविद के मरते ही देवगणों ने हर्षित होकर देवलोक से फूलों की वर्षा की और बलभद्र जी की स्तुति की[1]।

१५. धेनुकासुर—आख्यान

एकबार बलराम और श्रीकृष्ण जी गौओं को चराते हुए ग्वाल-बालों के साथ एक रमणीय तालवन में पहुँचे। उस दिव्य तालवन में धेनुक नामक एक गर्दभाकृति राक्षस रहता था, जो मनुष्यों एवं गायों को मारकर उनका मांस खाता था, जिसके भय से समस्त व्रजवासी उस वन में प्रवेश भी नहीं करते थे।

तालवन में श्रीकृष्ण जी को साथ देखकर ग्वाल-बाल ताल के सुन्दर फलों को तोड़कर खाने लगे। श्रीकृष्ण तथा बलराम जी भी क्रीड़ापूर्वक फलों को तोड़-तोड़ पृथिवी पर गिराने लगे। गिरते हुए फलों की आवाज

१. वि० पु० 5/36/1-24.

को सुनकर धेनुकासुर क्रोधित होकर दौड़ता हुआ वहां पहुँचा और उस दुरात्मा ने बड़े वेग से बलरामजी के वक्ष पर अपने पिछले पैरों से दुलत्ती मारी। किन्तु बलभद्र जी ने उसके पैरों को पकड़कर आकाश में बड़े वेग से घुमाते हुए उस तालवृक्ष पर ही पटक दिया। वह गर्दभाकृति राक्षस उसी समय मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी रक्षा के लिए आये हुए अन्य असुरों को भी श्रीकृष्ण तथा बलराम जी ने मार डाला। तब से उस तालवन में गौयें निर्भय होकर विचरण करने लगीं तथा सभी व्रजवासी भी उस आततायी के मारे जाने पर प्रसन्नचित्त होकर भगवान् के अप्रतिम शक्ति का बखान करते हुए प्रसन्न चित्त हो गये[1]।

१६. ध्रुव–आख्यान

भगवान् स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत तथा उत्तानपाद नामक दो पुत्र थे। उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थी–अत्यन्त प्रेयसी सुरुचि तथा राजमहिषी सुनीति। सुरुचि का उत्तम नामक तथा सुनीति का ध्रुव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा उत्तानपाद को अपनी प्रेयसी सुरुचि तथा पुत्र उत्तम पर अत्यधिक स्नेह था।

एकदिन राजसिंहासन पर स्थित पिता की गोद में अपने भाई उत्तम को बैठा हुआ देखकर ध्रुव की इच्छा भी पिता की गोद में बैठने की हुई, किन्तु सापत्न डाह को सहन न करती हुई सुरुचि ने कहा—अरे अभागे! ऐसा दुःसाहस मत करो, यदि ऐसी इच्छा है तो भगवान् की आराधना करके मेरे गर्भ से उत्पन्न होने का वर माँगो, तब यह कामना पूर्ण होगी। यह राजसिंहासन मेरे पुत्र उत्तम के लिए है, तुम्हारे लिए नहीं।

अपनी विमाता से ऐसे कटु वचनों को सुनकर ध्रुव अपनी माता के पास आकर सारा वृत्तान्त कह डाला। तब अफसोस करती सुनीता ने कहा—हे वत्स! सुरुचि ने ठीक ही कहा है, निश्चित ही तू मन्दभाग्य है। पूर्वजन्मों के किये कर्मों से ही आज यह सब देखना पड़ रहा है,

१. वि० पु० 5/8/1-13

इसलिए हे पुत्र ! तुम दुःखी न होओ तथा भगवान् की तपस्या से ऐसा वर प्राप्त करो जिसे अब तक कोई न प्राप्त किया हो। ऐसी उच्च पद की कामना से ईश्वर आराधना में लग जाओ।

माता की आज्ञा ले पाँच वर्ष का बालक ध्रुव उसी समय नगर से बाहर उपवन में पहुँचा तथा वहाँ पहले से आये मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वशिष्ठ इन सप्तर्षियो को प्रणाम कर उनसे अपनी मनोऽभिलषित उत्कट इच्छा प्रकट की और कहा—हे ऋषि-गण ! मुझे न धन की इच्छा है, न राज्य की। मैं तो केवल एक उसी स्थान को चाहता हूँ जिसको पहले कभी किसी ने न भोगा हो। कृपा करके आप बतायें कि क्या करने से वह सबसे अग्रगण्य स्थान प्राप्त हो सकता है। महर्षियों ने उसे अच्युत गोविन्द भगवान् की आराधना के लिए कहा।

तब ध्रुव ने यमुना नदी के पवित्र तटवर्त्ती पुण्यप्रदेश (मधुवन) में जाकर द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करते हुए अनन्यभाव से श्रीविष्णु भगवान् का ध्यान प्रारम्भ किया। देवताओं ने अनेक प्रकार से विघ्न उपस्थित किया, किन्तु बालक ध्रुव अटल होकर भगवान् के ध्यान में लीन रहा। उसकी अखण्ड तपस्या से प्रसन्न होकर सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीहरि ने प्रकट होकर ध्रुव से यथेष्ट वर माँगने के लिए कहा। तब रोमांचित होकर ध्रुव ने अनेक प्रकार से भगवान् की आराधना की और कहा—हे भगवन् ! आप सभी के अन्तःकरण में विद्यमान हैं, अतः मेरी अभिलाषा भी आपसे छिपी नहीं है। हे प्रभो ! मेरी विमाता सुरुचि ने गर्वित होकर मुझसे कहा था—'जो मेरे उदर से उत्पन्न नहीं है, उसके योग्य यह राजसिंहासन नहीं है'। अतः हे प्रभो ! आपके प्रसाद से मैं उस सर्वोत्तम एवं अव्यय स्थान को प्राप्त करना चाहता हूं, जो सम्पूर्ण विश्व का आधारभूत हो।

भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—हे ध्रुव ! मैं गगनमण्डल में तुझे वह स्थान देता हूं जो सूर्यादि सभी ग्रह-नक्षत्रों तथा समस्त सप्तर्षियों से ऊँचा है। देवगण आदि तो केवल एक मन्वन्तर तक ही स्थिर रहते हैं; किन्तु

तुम कल्पपर्यन्त स्थिर रहोगे। तुम्हारी माता सुनीति भी तारारूप से तुम्हारे साथ रहेगी।

तभी से सबसे उच्च स्थित उत्तरदिशा में यही बालक ध्रुव, ध्रुव नक्षत्र होकर अटल है। सभी सप्तर्षिगण उसकी परिक्रमा किया करते हैं[1]।

(१७) नरकासुर-वध-आख्यान

एकबार नरकासुर के अत्याचारों से पीड़ित होकर देवराज इन्द्र समस्त देवगणों, सिद्धों तथा गन्धर्वों के अनुरोध पर श्रीकृष्णचन्द्र के पास आये और नरकासुर द्वारा किए गये अत्याचारों का वर्णन कर वध के लिए प्रार्थना की। इन्द्र के उन वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण उसे आश्वस्त कर सत्यभामा को साथ लेकर गरुड़ पर सवार होकर नरकासुर के वध के विचार से उसकी नगरी प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचे। नरकासुर का महल कई दुर्गों से घिरा था और मुर दैत्य से सुरक्षित था। भगवान् अपने सुदर्शन चक्र से सभी दुर्गों का भेदन करते हुए तथा मुर, हयग्रीव आदि दैत्यों को मारते हुए नरकासुर के महल के समीप पहुँचे और अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया, जिसकी आवाज सुनकर अपनी विशाल सेना लेकर नरकासुर बाहर निकला और उनका श्रीकृष्ण जी से भयंकर युद्ध होने लगा। कुछ समय माया करने के अनन्तर भगवान् ने सुदर्शन चक्र से उसके दो टुकड़े कर दिए। नरकासुर का वध कर उसके पुत्र भगदत्त को राजगद्दी पर आसीन कर भगवान् श्रीकृष्णजी नरकासुर द्वारा हरण की हुई मनुष्य-देवादिकों की सुन्दरतम सोलह हजार कन्याओं को लेकर द्वारिका चले आये। नरकासुर ने यह प्रण कर रखा था कि मैं तीनों लोकों में जो सुन्दरतम कन्यायें होंगी उन्हीं से एक साथ विवाह करूँगा। यदि वे संख्या में बीस हजार हो जाँय इसी आशय से उसने सबको अपने महल में सुरक्षित रख छोड़ा था।

भगवान् ने उन सबको छुड़ाकर अपने-अपने घरों को जाने के लिए कहा, किन्तु उन सबने भगवान् के चरणों की दासी बनने की प्रार्थना की। तब श्रीकृष्ण उन्हें लेकर द्वारिका आये और उनके साथ रहने लगे[2]।

१. वि० पु० अध्याय 1/11-12
२. वि० पु० 5/29/135.

(१८) निदाघ का आख्यान

प्राचीनकाल में महर्षि पुलस्त्य का निदाघ नामक एक श्रेष्ठ पुत्र था। ऋभु नामक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण निदाघ के गुरु थे, जिससे उन्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का बोध प्राप्त हुआ।

निदाघ देविकानदी के तीर पर पुलस्त्य जी द्वारा बसाये गये वीर नामक एक रमणीक एवं सुसमृद्ध नगर में रहा करता था। सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता हो जाने पर भी ऋषि ऋभु ने देखा कि निदाघ की अभी अद्वैत में निष्ठा नहीं हो पायी है। इसी विचार से वे एकबार उनके पास पहुँचे और यथेच्छ भोजन तथा स्वागत सत्कार पाने पर तथा निदाघ के विनीतभाव से पूछे जाने पर कहने लगे—हे द्विज ! ये क्षुधा और तृषा तो देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। स्वस्थता और तुष्टि भी मन में ही होती है, अतः ये मन के ही धर्म हैं। पुरुष (आत्मा) से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा सर्वगत है, क्योंकि यह आकाश के समान व्यापक है। मैं और तुम तथा अन्य का भेद भी देहादि की भिन्नता के कारण है। इस प्रकार अनेक प्रकार से उसे आत्मविषयक ज्ञान देकर ऋभु स्वेच्छानुसार चले गये। पुनः सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने पर निदाघ के पास आये और निदाघ के द्वारा न पहिचाने जाने पर अपने को प्रकट किया और कहा—हे निदाघ ! पहले तुमने सेवा-सुश्रूषा करके मेरा बहुत आदर किया था, अतः तुम्हारे स्नेहवश मैं ऋभु नामक तुम्हारा गुरु ही तुमको उपदेश देने के लिए आया हूँ। हे महामते ! संक्षेप में यह जान लो कि—समस्त पदार्थों में अद्वैत-आत्म-बुद्धि रखना ही परमतत्त्वबोध है।' निदाघ से ऐसा कहकर, परम विद्वान् गुरुवर भगवान् ऋभु चले गये और उनके उपदेशवचनामृत से निदाघ भी अद्वैत-चिन्तन में तत्पर हो गये और समस्त प्राणियों को अपने से अभिन्न देखने लगे[१]।

(१९) पारिजात-कृष्ण-आख्यान

एकबार श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्यभामा के साथ स्वर्गलोक में इधर-उधर विहार कर रहे थे। मार्ग में देवराज इन्द्र का अत्युत्तम नन्दन-वन दिखलाई पड़ा। भ्रमण करते हुए उन्हें उस उद्यान में पारिजात नामक

१. वि० पु० 2/अ० 15-16

वृक्ष दिखलाई पड़ा, जो समुद्र-मन्थन के समय प्रकट हुआ था। उस यथेच्छ फलों के देनेवाले तथा स्वर्णिम आभावाले दिव्य वृक्षराज को देखकर सत्यभामा का चित्त मोहित हो आकृष्ट हो गया और उसने प्रफुल्लित होते हुए श्रीगोविन्द से कहा—'हे कान्त ! इस वृक्ष को आप द्वारकापुरी में ले चलिए, आप मुझसे कहते हैं कि तू रुक्मिणी-जाम्बवन्ती आदि सबसे अधिक प्यारी हो। अतः आज अपना वचन पूरा करने के लिए आप इस परिजात वृक्ष को मेरे गृह का भूषण बनाइये। मैं अपने केश-कलापों में इसके सुगन्धित पुष्पों को गूँथकर रुक्मिणी आदि से सुन्दर दिखाई दूँ। उद्यान-रक्षकों के द्वारा बहुत-प्रकार से रोकने पर भी श्रीकृष्ण जी उस पारिजात-वृक्ष को गरुड़ पर लेकर द्वारका में आ गये !

सत्यभामा के कहने पर श्रीकृष्ण द्वारा पारिजात-वृक्ष का हरण करने का समाचार जानकर इन्द्र-पत्नी इन्द्राणी (शची) ने इन्द्र से उस वृक्ष को पुनः लाने के लिए कहा। तब इन्द्र ने देवसेना के साथ हाथ में वज्र लेकर द्वारका की ओर प्रस्थान किया। देवसेना से घिरे हुए ऐरावतारूढ़ इन्द्र को युद्ध के लिए उद्यत देखकर कृष्णचन्द्रजी सम्पूर्ण दिशाओं को शब्दायमान करते हुए शङ्खध्वनि की और हजारों-लाखों तीखे बाण छोड़े। देवताओं ने भी बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी।

त्रिलोकी के स्वामी श्रीमधुसूदन ने देवताओं के द्वारा छोड़े गये अस्त्र-शस्त्रादिकों को लीलामात्र से खण्डित कर दिया। अन्त में देवराज इन्द्र तथा श्रीहरि में घनघोर युद्ध हुआ। सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों के कट जाने पर इन्द्र ने अन्तिम अमोध अस्त्र वज्र से प्रहार करना चाहा, किन्तु भगवान् ने उसे हाथ से रोककर छीन लिया। वज्र के छिन जाने से देवराज इन्द्र भागने लगा। पुनः सत्यभामा ने कहा—हे इन्द्र ! युद्ध से विमुख होना ठीक नहीं है। शची ने गर्वित होकर मेरा अपमान किया था, उसीके प्रति-फल पारिजात-वृक्ष का हरण हुआ, अब चूँकि शची को अपनी स्थिति का बोध हो गया है, एतदर्थ आप पारिजात-वृक्ष को ले लें और शची के साथ आनन्दपूर्वक रहें। तब देवराज इन्द्र ने श्रीहरि से क्षमा-याचना कर देवलोक को प्रस्थान किया[1]।

---

१. वि० पु० 5/30/31-80

२०. पुरूरवा-उर्वशी-आख्यान

चन्द्रवंश में एक पुरूरवा नाम का परमतेजस्वी राजा था। उसके रूप तथा गुणों से आकृष्ट होकर उर्वशी स्वर्ग के सुखों को भी छोड़कर तन्मयभाव से पुरूरवा के पास आयी। राजाने भी उसकी सुन्दरता देखकर, मोहित होकर उर्वशी से सर्वदा ही अपने साथ रहने के लिए अनुनय किया। तब उर्वशी ने तीन शर्त्तों के पालन करने पर ही साथ रहने का वचन दिया। प्रथम तो मेरे पुत्ररूप इन दो मेष-शिशुओं को आप मेरी शय्या से दूर न कर सकेंगे। द्वितीय मैं कभी आपको नग्न न देखने पाऊँ और तृतीय यह कि केवल घृत ही मेरा आहार होगा।

तब से लेकर राजा पुरूरवा ने उर्वशी के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आनन्द के साथ कभी अलकापुरी, कभी सुन्दर चैत्ररथ उद्यान और कभी सुन्दर पद्मखण्डों से युक्त रमणीय मानस आदि सरोवरों में विहार करते हुए साठ हजार वर्ष व्यतीत कर दिये। नित नवीन अनुराग वृद्धि के कारण उर्वशी ने भी देवलोक के मोह को छोड़ दिया। अप्सरा उर्वशी के बिना स्वर्गलोक सिद्धों-गन्धर्वों तथा देवादिकों को शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

एकदिन गन्धर्व विश्वावसु ने राजा पुरूरवा को वचन भंग करने के लिए तथा उर्वशी को प्राप्त करने के लिए गन्धर्वों के साथ रात्रि में पुरूरवा के पास जाकर एक मेष शिशु का हरण कर लिया। भय से कातर मेष शिशु की करुण आवाज सुनकर उर्वशी रोने लगी। राजा की नींद भी खुल गयी; किन्तु कहीं यह मुझे नग्नावस्था में न देख ले, इस डर से राजा शय्या का परित्याग नहीं कर सके। राजा की मजबूरी देखकर गन्धर्वगण दूसरा मेष शिशु भी चुरा ले गये। अन्धकार में उर्वशी मुझे देख न पायेगी राजा ने ऐसा सोचकर क्रोधावेश में ज्यों ही गन्धर्वों के पीछे तलवार लेकर भागना प्रारम्भ किया, उसी समय गन्धर्वों ने मायावी प्रकाश उत्पन्न कर दिया। उस प्रकाश में राजा पुरूरवा को वस्त्रहीन देखकर वचन-भंग हो जाने से उर्वशी राजा को छोड़कर अन्यत्र चली गई। मेषों को लेकर राजा वापस शयनागार में आये; किन्तु वहाँ उर्वशी को न पाकर नग्नावस्था में ही कामोन्मत्त होकर इधर-उधर घूमने लगे।

एकदिन राजा को कुरुक्षेत्र में कमल-सरोवर में अपनी सखियों के साथ विहार करती हुई उर्वशी दिखाई पड़ी। उसे देखकर वह विलाप करने लगा। तब उर्वशी ने कहा—हे राजन्! इस समय आपका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता। मैं गर्भवती हूँ। आप एक वर्ष के अनन्तर ही मुझे प्राप्त कर सकते हैं। राजा ने पुनः प्राप्ति की आशा से प्रसन्न होकर अपने नगर को प्रस्थान किया। वर्ष की समाप्ति पर राजा पुनः उसी स्थान पर आया और आयु, शतायु आदि छः पुत्र उन्हें प्राप्त हुए तथा गन्धर्वों की कृपा से राजा को पुनः उर्वशी-प्राप्ति का उपाय ज्ञात हुआ। अन्त में राजा को गन्धर्वलोक का साम्राज्य प्राप्त हुआ और उर्वशी के साथ उन्होंने बहुत समय तक विभिन्न सुखों का भोग किया[1]।

२१. पूतना-वध-आख्यान

पूतना बालघातिनी कंस की बहिन थी। एकबार श्रीकृष्णचन्द्र आँगन में खेल रहे थे। उस समय बालघातिनी पूतना राक्षसी कंस के आदेश से वहाँ पहुँची। पूतना अपने स्तनों में विष का लेप लगाये थी--जिससे कृष्ण को स्तनपान कराकर मैं कंस को दिये वचन को पूरा कर सकूँ। तदनन्तर रात्रि में जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी निद्रा में सोये हुए थे, तब पूतना ने उन्हें गोद में लेकर स्तन-पान कराना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु भगवान् तो सारी माया समझते थे, उन्होंने क्रोधपूर्वक स्तनों को कठोरता से मर्दित करते हुए इतनी तेजी से ऊपर को साँस खींची कि पूतना के प्राण भी खिचने लगे। स्नायुबन्धनों के ढीला हो जाने से घोर शब्द करती हुई पूतना अपने कपटरूप को छोड़कर महाराक्षसी होते हुए पछाड़ खाकर गिर पड़ी और तत्क्षण ही उसकी मृत्यु हो गयी। पूतना के इस भयंकर चीत्कार को सुनकर घबड़ाती हुई माता यशोदा तथा अन्य सभी व्रजवासी दौड़कर वहाँ पहुँचे और देखते हैं कि एक भयंकर आकृतिवाली विशाल राक्षसिनी भूमि पर गिरी पड़ी है और बालक कृष्ण उसके स्तनों से दुग्ध-पान कर रहे हैं। देखते ही माँ यशोदा जी ने दौड़कर भगवान् श्रीकृष्णजी को गोद में उठा लिया और अनेक प्रकार से उन्हें लाड़-प्यार

१. वि० पु० 4/6/35-94

करने लगी। नन्द तथा गोपादिकों ने भी भगवान् जी के अनिष्ट निवारण के लिए कई उपाय प्रारम्भ कर दिये और श्रीकृष्णजी भागकर दूर खड़े होकर बालसुलभ मुस्कान बिखेरने लगे, जिसे देखकर माँ यशोदा तथा सभी व्रजवासी आनन्दविभोर हो गये[1]।

२२. पौण्ड्रक-वध-आख्यान

काशीपुरी में वासुदेव नाम का एक राजा था। अज्ञानी जन उसे भगवान् समझकर उसकी स्तुति किया करते थे। धीरे-धीरे उस राजा को भी अभिमान हो गया और वह अपने को भगवान् श्रीकृष्ण समझने लगा। आत्म-विस्मृत हो जाने से उसने विष्णु भगवान् के समस्त चिन्ह धारण कर लिए और दूत के माध्यम से श्रीकृष्ण के पास सन्देश भिजवाया कि 'अरे मूढ़! अपने वासुदेव नाम को तथा चक्र आदि सम्पूर्ण चिह्नों को छोड़ दे और मेरी शरण में आ जा।' उक्त सन्देश को सुनकर श्रीहरि भी हँसकर गरुड़ पर चढ़कर तथा अपने चक्रादि चिह्नों से युक्त होकर उसकी राजधानी की ओर प्रस्थान किया। भगवान् के आक्रमण का समाचार सुनकर पौण्ड्रक काशीनरेश की सेना लेकर श्रीकृष्णचन्द्र के सम्मुख आया। भगवान् ने दूर से ही उसे हाथ में चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष और पद्म लिए एक उत्तम रथ पर बैठे देखा। उसके शरीर में पीताम्बर, गरुड़ रचित ध्वजा तथा वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्नांकित था। उसे नाना प्रकार के रत्नों से सुसज्जित किरीट और कुण्डल धारण किये हुए देखकर श्रीगरुडध्वज भगवान् गम्भीर-भाव से हँसने लगे और एक ही क्षण में अपने शार्ङ्गधनुष से छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणों तथा गदा-चक्र से सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर डाला। इसी प्रकार काशिराज की सेना को भी नष्ट करके मूढ़मति पौण्ड्रक के ऊपर अपने चक्र से प्रहार किया। काशिराज वासुदेव का सिर काटकर शार्ङ्गधनुष से छोड़े बाण से काशीपुरी में फेंक दिया। पौण्ड्रक और काशीनरेश को अनुचरों सहित मारकर श्रीकृष्ण जी पुनः द्वारिका में लौट आये।

---

१. वि० पु० 5/5/6-23

इधर काशीपुरी में वासुदेव के कटे सिर को देखकर सारे लोग अत्यन्त विस्मित हो गये। वासुदेव के पुत्र ने भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करके कृष्ण के विनाश के लिए 'कृत्या' को उत्पन्न करवाया; किन्तु उस कृत्या को देख भगवान् ने चक्र से उसका विनाश कर दिया। चक्राग्नि से सारी काशीपुरी भी दग्ध हो उठी[1]।

२३. प्रद्युम्न-हरण तथा शम्बरासुर-वध-आख्यान

श्रीकृष्णचन्द्रजी को रुक्मिणी से प्रद्युम्न नामक एक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति हुई; किन्तु प्रद्युम्न जब केवल छः दिन के थे; तब शम्बर नामक राक्षस ने उनका हरण कर लिया और उसे ले जाकर समुद्र में फेंक दिया। उस बालक को एक मत्स्य ने निगल लिया। वह मत्स्य एक मछुये के जाल में फँस गया। वह मछेरा शम्बरासुर के लिए नित्य मछलियाँ दिया करता था। उस दिन भी अन्य मछलियों के साथ वह मत्स्य भी राक्षस शम्बर के यहाँ पहुँचा। चीरने पर उसके पेट से जीता हुआ एक शिशु मिला। नारदजी के कहने पर शम्बरासुर की पत्नी मायावती ने उसका पालन-पोषण किया। बालक जब युवावस्था को प्राप्त हो गया तो मायावती उसके रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो गई। प्रद्युम्न द्वारा इस परिवर्तन के विषय में पूछने पर मायावती ने उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया कि किस प्रकार तुम यहाँ पहुँचे हो। मायावती से यह सब जानकर महा बलवान् प्रद्युम्नजी ने क्रोध से विह्वल होकर शम्बरासुर को युद्ध के लिए ललकारा और उससे युद्ध करने लगे। यादवश्रेष्ठ प्रद्युम्नजी ने उस दैत्यराज की सम्पूर्ण सेना मार डाली और उसकी सात मायाओं को जीतकर स्वयं आठवीं माया के प्रयोग से उसे मारकर विमान द्वारा मायावती को साथ लेकर द्वारका में आये।

श्रीकृष्णजी ने नारदजी के साथ रुक्मिणी तथा संभी लोगों को बताया कि 'ये प्रद्युम्न ही हैं' ऐसा जानकर रुक्मिणी आदि सब बहुत समय से खोये अपने पुत्र को पाकर अत्यन्त आनन्दित हुईं। मायावती के साथ प्रद्युम्न का विवाह हुआ[2]।

१. वि० पु० 5/34/1-44
२. वि० पु० 5/27/9-32

२४. प्रलम्ब-वध-आख्यान

प्रलम्ब कंस का दूत एक मायावी राक्षस था। भगवान् कृष्ण से द्वेष रखनेवाला राजा कंस, सर्वदा कृष्ण का अमङ्गल ही सोचा करता था। एक बार जब कृष्ण तथा बलराम जी गोप-ग्वालों के साथ क्रीड़ा करते हुए तथा गौएँ चराते हुए तालवन में विचरण कर रहे थे, उसीस मय कंस द्वारा भेजा गया प्रलम्ब नामक राक्षस छद्मवेष से गोपों के बीच में खेल में सम्मिलित हो गया। उचित अवसर देखकर प्रलम्ब, बलराम जी को अपने कन्धे में चढ़ाकर अत्यन्त वेग से आकाश-मण्डल की ओर भागने लगा। तब श्रीकृष्ण द्वारा बलभद्र को उनका वास्तविक स्वरूप का स्मरण दिलाये जाने पर हँसते हुए बलराम जी ने उसे पीड़ित करना चाहा। क्रोध से नेत्र लाल करके उसके मस्तक पर मुष्टि-प्रहार किया। उस प्रहार के अद्वितीय वेग को सहन न कर सकने के कारण वह दुष्ट राक्षस मुख से रक्त वमन करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा और मर गया। प्रलम्बासुर को मरा हुआ देखकर सभी गोपगण प्रसन्न होते हुए कृष्ण और बलराम के साथ गोकुल लौट आये[1]।

२५. प्रह्लादोपाख्यान

प्राचीनकाल में कश्यपजी को दिति नामक स्त्री से हिरण्यकशिपु नाम का एक अत्यन्त पराक्रमी दैत्य हुआ। ब्रह्माजी के वरदान से उसने त्रिलोकी को अपने वश में कर रखा था। उसके भय से देवगण स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य शरीर धारण कर भूमण्डल में विचरण करते थे। दैत्यराज हिरण्यकशिपु के प्रह्लादि चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें से सबसे छोटा पुत्र प्रह्लाद अत्यधिक धर्मात्मा तथा सर्वदा भगवद्भक्तिपरायण रहता था। आसुरी पाठ पढ़ाने के लिए पिता हिरण्यकशिपु ने बालक को गुरु-गृह में भेजा। एक दिन वह सद्बुद्धि बालक प्रह्लाद गुरुजी के साथ अपने पिता के पास आया और पिता के द्वारा अब तक क्या-क्या पढ़ा, इस प्रकार पूछे जाने पर कहने लगा—पिताजी ! सबसे बड़ा अध्ययन यही है कि इस अखिल ब्रह्माण्ड के कारण भूत, व्यक्ताव्यक्त, भगवान् नारायण

१. वि० पु० 5/9/1-38

श्रीहरि के गुणरूप अतुल तेज का ज्ञान हो जाय। यही जीवन का लाभ है और यही सार्थक शिक्षा भी है। वे भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् के कर्त्ता-नियन्ता तथा संहर्त्ता परमेश्वर हैं और वे ही समस्त चेतन अचेतन में आलोक रूप से व्याप्त हैं। अतः हे तात! आप क्रोध न कर भगवान् का आश्रय ग्रहण कीजिए।

पुत्र के इस प्रकार के अनपेक्षित वचनों को सुनकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु बोला—अरे मूढ़! मेरे रहते तू किसी अन्य को ईश्वर मान रहा है। तुझे मालूम नहीं कि सभी देवऋषि तथा जीवलोक मेरी आज्ञा से चलते हैं। मैं ही सर्वस्व हूँ और तू इस प्रकार अपने पिता का अपमान कर रहा है। अच्छा देखता हूँ तेरी रक्षा कौन करता है। इस प्रकार से अत्यन्त कुपित होते हुए उसने अपने सेवकों को उसे मार डालने की आज्ञा दी। सैंकड़ों-हजारों दैत्यगण बड़े-बड़े अस्त्रों को लेकर मारने लगे; किन्तु भगवदासक्त चित्त वाले प्रह्लाद को उसका कुछ भय न लगा। यह देख क्रोधित होकर दैत्यराज ने उसको मार डालने के लिए शतशः प्रयास किये; किन्तु सभी प्रयास विफल हो गये। विषाग्नि युक्त सर्पों से डसवाया, मतवाले दिग्गजों से कुचलवाया, अग्नि में जलवाया, भोजन में हलाहल विष दिया, पुरोहितों द्वारा अग्निशिखा के समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्या के द्वारा वज्र से प्रहार करवाया, सौ योजन महल के ऊपर से पत्थर की शिला पर फेंकवाया, नागपाश से बाँधकर अगाध समुद्र में डुबवाया, मायावी राक्षस शम्बरासुर को मारने का आदेश दिया, हृदयशोषी सुतीक्ष्ण वायु उत्पन्न की, किन्तु हिरण्यकशिपु योगबल से विष्णुमय हुए अनन्य भक्त प्रह्लाद का कुछ भी न बिगाड़ सके और बार-बार प्रह्लाद के मुख से भगवद्भक्ति तथा उनके सुन्दर रूप गुणों और उनकी महिमा का वर्णन सुनकर उन्होंने क्रोधपूर्वक अपने पुत्र के वक्षःस्थल पर लात मारी और क्रोध तथा अमर्ष से जलते हुए अपनी अकिञ्चनता पर खीझ उठे और मन ही मन सोचने लगे कि यदि इस कुपुत्र का नाश नहीं हो जाता है, तो सम्पूर्ण लोक और दैत्य-दानव आदि भी इस मूढ़ दुरात्मा के मत का अनुगमन कर विष्णुभक्त हो जायेंगे; किन्तु भक्त प्रह्लाद को इन विषयों से तात्पर्य न था। वह तो तन्मय होकर देवाधिदेव भगवान् श्रीहरि के रूप-गुणों की स्तुति करता रहा। उसकी अनन्यमनस्कता से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु प्रकट हुए और कहने लगे—हे प्रह्लाद!

मैं तेरी श्रद्धाभक्ति से द्रवित हो गया हूँ तुझे जिस भी वर की इच्छा हो तू निःसंकोच मांग ले। तब प्रह्लाद ने कहा—हे नाथ ! सहस्रों योनियों में मैं जिस-जिस योनि को प्राप्त करूँ, हे अच्युत ! आप में मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति बनी रहे। हे देव ! आपकी स्तुति में प्रवृत्त होने से मेरे पिता हिरण्यकशिपु को चित्त में मेरे प्रति जो द्वेष हुआ है, पापरूप उस द्वेष-बुद्धि का नाश हो। हे परमेश्वर ! इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिए। बस आप में निश्चल भक्ति बनी रहे। 'तथास्तु' कहकर भगवान् गोविन्द तत्क्षण ही अन्तर्धान हो गये।

अपने पुत्र प्रह्लाद का इस प्रकार का अलौकिक तथा अनुकरणीय चरित्र देख हिरण्यकशिपु ने भावावेश से आँखों में आँसू भरकर अपनी पराजय को स्वीकार किया तथा अपने कुकृत्यों से पछताते हुए प्रह्लाद से स्नेह करने लगा। तब भगवान् द्वारा नृसिंह अवतार द्वारा मारे गये हिरण्यकशिपु निर्वाण को प्राप्त हुआ और प्रह्लाद भी राज्यलक्ष्मी, पुत्र-पौत्रादि तथा परम ऐश्वर्य को पाकर धर्मपूर्वक उनका भोग करते हुए अन्त में विष्णु धाम को प्राप्त हुआ[1]।

२६. प्राचीनबर्हि तथा प्रचेताओं का आख्यान

राजा पृथु के वंश में प्राचीनबर्हिष् नामक एक धर्मात्मा तथा प्रजा-पालक राजा था। वह नित्य यज्ञ-यागादि धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन किया करता था। प्राचीनाग्र नामक कुशों के अधिक मात्रा में उत्पन्न होने से वे 'प्राचीनबर्हि' इस नाम से विख्यात हो गया। अपनी दीर्घकालिक तपस्या पूर्णकर उसने समुद्रकन्या सवर्णा से विवाह किया। कालान्तर में उन्हें दश पुत्र प्राप्त हुए। धनुर्विधा में पारङ्गत वे सभी पुत्र प्रचेता नाम से जाने गये। पिता की आज्ञा से प्रजा की वृद्धि के लिए प्रचेता नामक उन पुत्रों ने समुद्र के जल में अवस्थित होकर दश हजार वर्षों तक भगवान् विष्णु की आराधना की। उनकी अराधना से प्रसन्न होकर श्रीहरि ने उन्हें दर्शन दिया और कहा—हे भवतों ! मैं तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट मनोरथ 'प्रजा-वृद्धि' की पूर्णता का वर देता हूँ। ऐसा कहकर भगवान् वहीं पर अन्तर्धान

१. वि० पु० 1/ 16-20

हो गये तथा प्रसन्न होकर प्रचेता भी जल से बाहर निकलकर अपने पूर्व स्थान को चले गये। प्रचेताओं ने प्रम्लोचा तथा कण्डु की कन्या मारिषा को पत्नीरूप में प्राप्तकर दक्ष प्रजापति जैसे प्रतापी पुत्र को प्राप्त किया[१]।

२७. बुधोत्पत्ति—आख्यान

भगवान् विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्माजी के पुत्र अत्रि थे। उनके चन्द्रमा नामक एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र हुआ। उन्हीं का दूसरा नाम 'सोम' था, जिनसे चन्द्रवंश चला। एकबार चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया। अपने प्रभाव और अति उत्कृष्ट आधिपत्य के अधिकारी होने से चन्द्रमा को राजमद ने आक्रान्त कर लिया। मदोन्मत्त हो जाने के कारण उसने देवगुरु भगवान् बृहस्पतिजी की भार्या तारा का हरण कर लिया और देवगणों द्वारा इसका विरोध किये जाने पर भी चन्द्रमा ने तारा को नहीं दिया। दैत्य गुरु शुक्राचार्य भी बृहस्पति से द्वेष रखते थे, अतः सभी दैत्य-दानवगण तथा शुक्राचार्य चन्द्रमा के पक्ष में हो गये। इस प्रकार झगड़े का कारण उपस्थित हो जाने से देवों तथा दानवों में 'तारा' की प्राप्ति के लिए भयंकर युद्ध छिड़ गया। ब्रह्माजी की कृपा से तारा पुनः बृहस्पति को प्राप्त हुई। तारा को गर्भिणी देखकर बृहस्पति ने 'तारा' की भर्त्सना की और गर्भस्थ शिशु को त्याग देने के लिए कहा। तारा ने वह गर्भ एक झाड़ी में फेंक दिया। उस बालक की सुन्दरता तथा तेजस्विता के कारण बृहस्पति तथा चन्द्रमा दोनों उसे देखने के लिए आतुर हो उठे। देवताओं ने उस बालक के लिए 'मेरा पुत्र है' 'मेरा पुत्र है' इस प्रकार से चन्द्रमा तथा बृहस्पति दोनों को लड़ते देखकर तारा से पूछना प्रारम्भ किया—'अरे सुभगे! तू हमको सत्य बता कि यह पुत्र बृहस्पति का है या चन्द्रमा का?' लज्जावश तारा के कुछ न बता पाने पर स्वयं ब्रह्माजी ने तारा से पूछा और तारा ने बताया कि—'यह बुध नामक पुत्र चन्द्रमा का है।' नक्षत्रपति चन्द्रमा ने प्रसन्न होते हुए उस बालक को हृदय से लगाकर—'तुम बुद्धिमान् हो' इस प्रकार कहा और तभी से चन्द्र-पुत्र 'बुध' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ[२]।

---

१. वि० पु० 1/14/1-49

२. वि पु० 4/6/5-33

२८, वृषभासुरवध-आख्यान

एकदिन भगवान् श्रीकृष्ण जब गोपियों के साथ रास-लीला में आसक्त थे, उसी समय कंस द्वारा भेजा हुआ अरिष्ट नामक एक मदोन्मत्त राक्षस वृषभ का रूप धारणकर व्रजवासियों को भयभीत करता हुआ भगवान् के समीप आया और अपने तीक्ष्ण सींगों तथा नुकीले खुरों से पृथ्वी को खोदता हुआ इधर-उधर मिट्टी फेंकने लगा। दांत पीसता हुआ वह वृषभासुर जीभ से बार-बार होंठों को चाट रहा था। उसके इस भयंकर रूप को देखकर गोप-गोपाङ्गनाएँ भयभीत होकर भगवान् को पुकारने लगीं। उनके आर्त्त स्वर को सुनकर श्रीकृष्णजी वहाँ उपस्थित हुए। वृषभासुर क्रोधित होकर अपने सींगों से भगवान् को मारने के लिए बड़े वेग से दौड़ा, किन्तु उन्होंने लीलापूर्वक उसके दोनों सींगों को उखाड़ फेंका। उस राक्षस की कुक्षि में घुटने से तीव्र प्रहार किया और उसके सींगों को उखाड़ फेंका। वह महादैत्य मुख से रक्त वमन करता हुआ बड़े वेग के साथ पृथिवी पर गिर पड़ा और मर गया। उस दैत्य के मरते ही आश्वस्त हो सभी व्रजवासी भगवान् श्रीकृष्ण जी की अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे[1]।

२९. मान्धाता-आख्यान

इक्ष्वाकु वंश में युवनाश्व नामक एक राजा थे। युवनाश्व निःसन्तान होने के कारण खिन्नचित्त मुनीश्वरों के आश्रम में रहा करते थे। उनके दुःख से द्रवीभूत होकर दयालु मुनिजनों ने पुत्रोत्पत्ति के लिए एक बृहत् यज्ञानुष्ठान किया। आधी रात के समय यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर मुनिजन मन्त्रपूत जल का कलश वेदी में रखकर सो गये। उनके सो जाने पर अत्यन्त पिपासा से व्याकुल राजा वहाँ पहुंचे और जल से भरे कलश को देखकर उसका जल पी गये। प्रातः ऋषियों द्वारा पूछे जाने पर राजा ने बताया कि मैंने ही जल पिया है। तब ऋषियों ने कहा—यह जल तो आपकी पत्नी के पीने के लिए था, जिसे पीकर वे महाबलविक्रमशील पुत्र उत्पन्न करतीं। उस जल के अद्वितीय शक्तिसम्पन्नता के कारण कालान्तर में राजा युवनाश्व को गर्भ रह गया और यथासमय एक

1. वि० पु० 5/14/1-14।

बालक राजा की दक्षिण कोख से बाहर निकल आया; किन्तु इनसे राजा की मृत्यु नहीं हुई। देवराज इन्द्र ने उस बालक का पालन-पोषण किया और उसका नाम मान्धाता रक्खा। यही चक्रवर्ती मान्धाता सप्तद्वीपा पृथ्वी का शासन करने लगा। राजा मान्धाता के विषय में यह प्रसिद्ध है कि जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वह सभी क्षेत्र युवनाश्व के पुत्र मान्धाता का है। मान्धाता ने शतबिन्दु की पुत्री बिन्दुमतीं से विवाह कर अखण्ड राज्यश्री का धर्मपूर्वक उपभोग किया। राजा को बिन्दुमती से पुरुकुत्स, अम्बरीष तथा मुचुकुन्द नामक तीन श्रेष्ठ पुत्र तथा पचास कन्याएँ प्राप्त हुईं[1]।

३०. यमलार्जुन-आख्यान

एकबार भगवान् श्रीकृष्णजी की बाल-लीलाओं से परेशान होकर माँ यशोदाजी ने उन्हें कमर में रस्सी बाँधकर उलूखल में मजबूती से बाँध दिया और रोष से कहने लगीं—अरे शैतान! अब तुझमें सामर्थ्य हो तो इस बन्धन को तुड़ाकर भाग। ऐसा कहकर वे निश्चिन्त होकर अपने गृह-कार्यों में लग गयीं।

माँ यशोदा के जाते ही श्रीकृष्ण मन ही मन मुस्कराते हुए ऊखल को ही खींचते-खींचते उस स्थान पर आये, जहाँ दो वृक्ष सामने खड़े थे। उनके बीच से भगवान् तो निकल गये, किन्तु ऊखल फँस गया। उन्होंने थोड़ा आगे बढ़कर ऊखल को खींचा, जिससे वे दोनों वृक्ष उखड़ कर गिर पड़े। शाप से वृक्षयोनि को प्राप्त हुए यमल तथा अर्जुन भगवान् के दर्शन से कृतकृत्य होकर अपने स्थान को चले गये किये। वृक्षों के गिरने की आवाज को सुनकर माँ यशोदाजी तथा सभी ब्रजवासी वहाँ पहुँच गये तथा वहाँ के दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हो उठे। माँ यशोदा ने मातृभाव से श्रीकृष्णजी को लेकर अपने हृदय से लगा लिया[2]।

1. वि० पु० 4/2/43-68।
2. वि० पु० 5/6-13-20।

३१. ययाति—आख्यान

प्राचीनकाल में नहुष नामक एक अत्यन्त तेजस्वी राजा था। उनके यति-ययाति-संयाति-आयाति-वियाति तथा कृति नामक छः पुत्र थे। यति के धार्मिक प्रवृत्ति के होने से उनके छोटे भाई ययाति राज्य के उत्तराधिकारी बने। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी तथा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा से विवाह किया और पाँच पुत्रों को—देवयानी से यदु तथा तुर्वसु को एवं शर्मिष्ठा से द्रुह्यु-अनु और पुरु को उत्पन्न किया।

शुक्राचार्य के शाप के परिणामस्वरूप ययाति असमय में ही वार्धक्यावस्था को प्राप्त हो गये, किन्तु उनकी कामेच्छा शान्त न हो पायी थी, अतः उन्होंने अपने सभी पुत्रों से क्रमशः वृद्धावस्था को लेकर युवावस्था देने का अनुरोध किया। किन्तु इस अवस्था-परिवर्तन को किसी ने भी स्वीकार न किया। सबसे छोटे पुत्र पुरु ने पिता की स्थिति को देखते हुए उनके अनुरोध को सहर्ष स्वीकार कर लिया और अपने पिता की वृद्धावस्था ग्रहण कर उन्हें अपना यौवन दे दिया। पुनः युवावस्था पाकर राजा ययाति ने यथेच्छ कामोपभोग प्रारम्भ किया। बहुत काल तक कामनाओं को भोगते हुए भी जब उनकी तृष्णा शान्त नहीं हुई और नित्य नवीन विषय-सुखों की उत्कण्ठा जागृत होने लगी तब उन्होंने यह निश्चय किया कि भोगों की तृष्णा उनके भोग से कभी शान्त नहीं हो सकती, अपितु घृत की आहुति से अग्नि के समान निरन्तर बढ़ती जाती है। अवस्था के जीर्ण हो जाने पर शरीर तो जीर्ण होने लगता है, किन्तु जीवन और धन की आशाएँ जीर्ण नहीं होतीं। यद्यपि मैंने एक सहस्रवर्ष पर्यन्त निरन्तर विषय-सुखों का उपभोग किया, किन्तु नित्य मेरी लालसा बढ़ती जाती है। अब मैं इन भोगों की असारता को समझ गया हूं, अतः अब केवल चित्त को भगवान् के चरण-कमलों में ही स्थिर रखूँगा।

तदनन्तर उन्होंने अपने पुत्र पुरु को बुलाकर उससे अपनी वृद्धावस्था ले ली तथा उसका यौवन उसे समर्पित कर दिया। उसे राज्यपद पर अभिषिक्त कर ययाति वन को चले गये[1]।

1. वि० पु० 4/10/1-32

३२. रुक्मिणी-आख्यान

विदर्भ राज्य के कुण्डिनपुर नामक नगर में भीष्मक नामक एक राजा थे। उनके रुक्मी नामक पुत्र और रुक्मिणी नाम की एक सुन्दर कन्या थी। रुक्मिणी अनुरागवश श्रीकृष्णजी पर आसक्त रहती थी; किन्तु द्वेषवश रुक्मी अपनी बहिन को शिशुपाल को देना चाहता था। श्रीकृष्ण के अनुरोध पर उन्होंने रुक्मिणी को नहीं दिया और जरासन्ध की प्रेरणा से भीष्मक तथा रुक्मी ने मिलकर शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह निश्चित कर लिया। शिशुपाल के यहाँ विवाह-मण्डप में सभी राजा उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण भी बलभद्र आदि यदुवंशियों के साथ विवाहोत्सव देखने कुण्डिनपुर पहुँचे।

विवाह के एक दिन पहिले श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया। रुक्मिणी के हरण होने का समाचार जानकर पौण्ड्रक, दन्तवक्र, विदूरथ, शिशुपाल, जरासन्ध तथा शाल्व आदि राजा क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए उद्यत हुए। किन्तु बलराम आदि यदुश्रेष्ठों ने उन्हें पराजित कर दिया। तब रुक्मी ने यह प्रतिज्ञा कर कि 'मैं युद्ध में कृष्ण को मारे बिना कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा' कृष्ण को मारने के लिए उनका पीछा किया। किन्तु श्रीकृष्णजी ने लीलामात्र से सेना-सहित उसको पराजित किया और रुक्मिणी के साथ सम्यक् रीति से पाणिग्रहण किया। कालान्तर में रुक्मिणीजी ने कामदेव के समान सुन्दर प्रद्युम्न नामक एक तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया[1]।

३३. वेन तथा पृथु–आख्यान

ध्रुव के वंश में अङ्ग नामक एक धर्मात्मा राजा था। राजा को सुनीथा के गर्भ से वेन नामक पुत्र प्राप्त हुआ। वेन अपने मातृकुल से प्रभावित होकर स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था। राजसिंहासन पर अभिषिक्त होते ही वेन ने यह राजाज्ञा घोषित करवायी कि कोई ब्राह्मण यज्ञ-याग, दान-पूजा आदि धार्मिक कार्य न करे। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव,

1. वि० पु० 5/26/1-12।

इन्द्रादिक सभी देवगण राजा के शरीर में निवास करते हैं, इसलिए आप सब मेरी ही पूजा करें। ब्राह्मणों तथा ऋषिगणों ने राजा को इस अधर्म के मार्ग से प्रत्यावर्त्तित करना चाहा, किन्तु राजा ने उनकी एक न सुनी और अनीति का आश्रय लेते रहे। तब कुपित होकर ब्राह्मणों ने दुराचारी उस राजा को अभिमन्त्रित कुशाओं से मार डाला। राजा से हीन हो जाने से प्रजा में बड़ा आतङ्क छा गया। तब पुत्र-प्राप्ति के लिए महर्षियों ने उस मृत वेन की जंघा का यत्नपूर्वक मन्थन किया, जिससे कृष्णवर्ण का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह निषाद कहलाया और विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान किया।

तदनन्तर ब्राह्मणों ने राजा वेन के दाहिने हाथ का मन्थन किया जिससे अत्यन्त प्रतापी पृथु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसमें भगवान् का अंश था, उत्पन्न होते ही उसे भगवान् शङ्कर से आजगव नामक धनुष, दिव्य बाण तथा कवचादि प्राप्त हुए। सत्पुत्र के उत्पन्न हो जाने से वेन भी स्वर्गलोक को चला गया। कालान्तर में ब्राह्मणों ने राजा पृथु को राजसिंहासन पर विभिन्न तीर्थों-नदियों से स्वयं प्राप्त जल से अभिषिक्त किया। राजा पृथु के दैवी तथा अलौकिक चरित्र से सारी प्रजा शस्य-सम्पन्न तथा सुखी रहने लगी।

एकबार राजा पृथु ने एक पैतामह यज्ञ किया और उस यज्ञ से सूति तथा मागध का जन्म हुआ। सूति तथा मागध ने राजा के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया।

एकबार अपनी प्रजा के अनुरोध पर राजा पृथु ने समस्त औषधियों को प्राप्त करने के लिए पृथिवी को द्रवित किया। तब राजा के भय से डरी हुई पृथिवी गाय का रूप धारण कर भागने लगी और राजा धनुष लिए उसके पीछे-पीछे दौड़ा। कहीं आश्रय न पाकर अन्त में गोरूपा पृथिवी ने राजा पृथु से कहा—हे राजन्! मैं धेनुरूप से आपको अभीष्ट वस्तुओं को उपलब्ध कराऊँगी। तब राजा ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बनाकर प्रजा की हितकामना से गोरूप पृथिवी को दुहा। तत्पश्चात्

देवता, मुनि, दैत्य, राक्षस, यक्ष तथा पितृगणों ने भी उस गाय का दोहन कर अभिमत फलों को प्राप्त किया। ऐसे चरित्रवान् राजा पृथु के राज्य में पुनः सारा जीवलोक आनन्दित हो गया[1]।

३४. सगरोपाख्यान

सूर्य वंश में 'सगर' नामक एक प्रतापी राजा हुआ। सुमति और केशिनी नामक उनकी दो स्त्रियाँ थीं। राजा सगर ने सन्तान-प्राप्ति के लिए भगवान् 'और्व' की तपस्या कर केशिनी से एक तथा सुमति से साठ हजार पुत्र-प्राप्ति का वरदान प्राप्त किया।

केशिनी से 'असमञ्जस' नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा सुमति से साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए। बाल्यावस्था में ही 'असमञ्जस' के दुराचारी होने के कारण राजा सगर ने उसका परित्याग कर दिया। सुमति के साठ हजार पुत्र भी असमञ्जस की तरह ही दुराचारी थे। अपने सन्तान की यह दशा देख दुःखित होकर राजा सगर ने एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया; किन्तु याज्ञिक अश्व को कोई चुराकर पृथ्वीतल में ले गया। उनके पुत्र अश्व की खोज करते-करते पाताल तक पहुँच गये। वहाँ उन्हें अत्यन्त तेजस्वी भगवान् कपिल मुनि अपने आश्रम में ध्यानस्थ दिखाई दिये, जिनके समीप में ही घोड़ा बँधा हुआ था। सगर-पुत्रों ने भगवान् कपिल को ही अश्व-चोर समझकर अनेक प्रकार से भर्त्सना कर उन्हें ही यज्ञ-विध्वंसक समझा और 'मारो-मारो' इस प्रकार से चिल्लाते हुए कपिल मुनि की ओर दौड़ने लगे। किन्तु क्रोधावेश में महर्षि के आँख खोलते ही वे सब पुत्र तत्क्षण ही जलकर भस्म हो गये।

राजा सगर को इस वृत्तान्त की जानकारी होने पर उन्होंने 'असमञ्जस' के पुत्र 'अंशुमान' को पुनः घोड़ा लाने के लिए नियुक्त किया। वह धार्मिक राजकुमार अंशुमान मुनि कपिल के आश्रम में पहुँचा और भक्तिपूर्वक नम्र होकर अश्व-प्राप्ति के लिए निवेदन किया। मुनि ने प्रसन्न होकर घोड़ा दे दिया और कहा—हे अंशुमान! तुम्हारा

1. वि० पु० 4/4/1-35

तृतीय वंशधर गङ्गाजी को पृथिवी पर लायेगा और उस पवित्र जल के स्पर्श से ये सभी स्वर्ग को प्राप्त करेंगे। मुनि कपिल से आशीर्वाद तथा अश्व प्राप्त कर प्रसन्न होता हुआ 'अंशुमान' पिता की यज्ञशाला में आया और अश्व-प्राप्ति पर यज्ञ की पूर्णता हुई।

कालान्तर में अंशुमान् के दिलीप तथा दिलीप के भगीरथ नामक प्रतापी पुत्र हुए, जिन्होंने गङ्गाजी को स्वर्ग से पृथिवी पर लाकर अपने पूर्वजों का उद्धार किया[1]।

३५. समुद्र-मन्थन-आख्यान

एकबार महर्षि दुर्वासा पृथ्वीतल पर विचरण कर रहे थे। मार्ग में उन्हें विद्याधर-कन्या से सन्तानक पुष्पों से गुँथी हुई एक सुवासित माला प्राप्त हुई। इस माला को अपने मस्तक पर धारण करते हुए वे इधर-उधर भ्रमण करने लगे। उसी समय उन्होंने ऐरावत पर विराजमान शचीपति इन्द्र को आते हुए देखा और वह माला उन्हें भेंटस्वरूप दे दी। देवराज इन्द्र ने उस माला को ऐरावत के मस्तक पर डाल दिया, किन्तु ऐरावत हाथी ने माला को सूंघकर पृथ्वी पर फेंक दिया। उस सुवासित माला की तथा अपनी अवज्ञा जानकर महर्षि ने अत्यन्त क्रोधित होकर इन्द्र को शाप दे दिया—'हे इन्द्र ! तुमने मुझे सामान्य ऋषि समझकर मेरा अपमान किया है तथा मेरी दी हुई इस माला का भी निरादर किया है, इसलिए शीघ्र ही तुम इस त्रिभुवन के वैभव से श्रीहीन होकर अपमानित होओगे'। इतना कहकर इन्द्र के द्वारा बहुत अनुनय विनय किए जाने पर भी ऋषि शान्त नही हुए और चले गये तथा इन्द्र भी घबड़ाते हुए पुनः अमरावती को लौट गये।

ऋषि के शाप से सारा त्रिभुवन श्रीहीन हो गया। दैत्यों तथा दानवों ने उचित अवसर देखकर देवताओं पर चढ़ाई कर दी और उन्हें परास्त कर दिया। तब इन्द्रादि देवगण पितामह ब्रह्मा जी को साथ लेकर शेषशायी भगवान् विष्णु के पास पहुँचे और अनेक स्तुतियों से उन्हें

1. वि० पु० 1/13/1-95

प्रसन्न कर पूर्व वृत्तान्त अवगत कराया। उन्हें शरण में आया देख भगवान् हरि ने कहा—हे देवगणों! आप दानवों के साथ दुरभिसन्धि कर समुद्र मन्थन करो, उसमें से निकले अमृत से आप पुनः श्रीयुक्त तथा वैभव-सम्पन्न हो जाओगे।

भगवान् की आज्ञानुसार देवगणों ने दैत्यों को साथ लेकर समस्त त्रिभुवन की औषधियों को एकत्र कर समुद्र में छोड़ा। तब समुद्र का मन्थन प्रारम्भ किया। दैत्यगण देवताओं की इस चालाकी को समझ न पाये। मन्दराचल मथानी था, जिसे स्वयं भगवान हरि कूर्मरूप से धारण किये थे। वासुकि नाग मथने की रस्सी बने, जिनके फणों की तरफ दैत्यगण तथा पूँछ की तरफ देवगण थे।

इस प्रकार बड़े वेग से क्षीर-समुद्र के मथे जाने पर सर्वप्रथम सुरपूजिता कामधेनु प्रकट हुई, तत्पश्चात् वारुणी देवी, फिर अप्सराएँ तथा चन्द्रमा प्रकट हुए, जिसे भगवान् शङ्कर ने ग्रहण किया। फिर विष निकला, जिसे नागों ने ग्रहण किया। तदनन्तर अमृत का कमण्डलु लिये धन्वन्तरि और फिर हाथों में कमल-पुष्प धारण किए श्रीलक्ष्मीजी प्रकट हुईं, उन्हें देखकर देवगण-दैत्यों अप्सराओं आदि सभी ने विविध प्रकार से उनका पूजन किया। दिव्य आभा से युक्त श्री लक्ष्मी जी भगवान् हरि के वक्षःस्थल में विराजमान हुईं और पतिरूप में उनका वरण किया। ऐसा देखकर दानव लोग अत्यन्त कुपित हो उठे उन्होंने धन्वन्तरि के हाथ में अवस्थित अमृत से पूर्ण कलश को लेकर भागने का प्रयास करना ही चाहा था कि श्री भगवान् हरि ने मोहिनीरूप धारण कर उन्हें मोहित कर वह कलश देवताओं को समर्पित किया, देवगणों ने उसका पान कर डाला। क्रुद्ध हुए दैत्यों ने देवताओं पर अपने तीखे अस्त्रों से प्रहार प्रारंभ कर दिया; किन्तु श्री हरि की कृपा से शक्तिसम्पन्न देवता, दैत्यों को मार भगाकर पुनः इन्द्रादिक के साथ श्रीसम्पन्न होकर स्वर्ग का शासन करने लगे[1]।

१. वि० पु० 1/9/1-115।

३६. स्यमन्तकमणि-आख्यान

प्राचीन काल में सत्राजित् नामक एक प्रतापी राजा था। भगवान् सूर्य की कृपा से उन्हें 'स्यमन्तक' नाम का एक उत्तम मणिरत्न प्राप्त हुआ। उस मणिरत्न को अपने गले में लटकाये सत्राजित् द्वारकावासी लोगों के लिए महदाश्चर्य का विषय बना। उस मणि के प्रभाव से सर्वत्र ज्वलन्त प्रकाश ही दिखाई देता था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में रोग, अनावृष्टि, अग्नि, चौरादि का भय नहीं रहा। श्रीकृष्ण ने सोचा कि यह मणिरत्न प्रजा के स्वामी राजा उग्रसेन के योग्य है। श्रीकृष्ण ने सत्राजित् से कहा कि यह मणि उग्रसेन को दे दो। किन्तु सत्राजित् को इसमें अपना अपमान लगा और उन्होंने मणि नहीं दी; किन्तु चोरी के भय से सर्वदा उसको छिपाये रखा तथा बाद में अपने छोटे भाई प्रसेन को वह मणि दे दी। किन्तु प्रसेन को मणि-धारण करने की समुचित विधि ज्ञात न थी। अतः वह अशुद्धावस्था में ही मणि को गले में बाँधकर मृगया के लिए जंगल की तरफ निकल पड़ा। संयोगवशात् एक सिंह ने उसका वध कर दिया। कौतूहल से सिंह उस मणि को लेकर अपनी गुफा की ओर जाने लगा। किन्तु उसी समय ऋक्षराज जाम्बवान् ने सिंह को मारकर वह मणि प्राप्त कर ली और अपने पुत्र सुकुमार को खेलने के लिए दे दिया।

इधर प्रसेन जब वापस नहीं लौटा तो यादवों ने सोचा कि निश्चित ही कृष्ण ने उसे मारकर मणि ले ली है। इस लोकापवाद की असत्यता प्रकट करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण यादवों की विशाल सेना लेकर जङ्गल की तरफ निकल पड़े और वहाँ उन्हें घोड़े सहित प्रसेन सिंह द्वारा मारा गया दिखाई दिया। सिंह के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए वे मणि की खोज में निकले। थोड़ी ही दूर पर उन्हें ऋक्षराज जाम्बवान् द्वारा मारा गया सिंह भी दिखाई दिया, किन्तु मणि वहाँ भी न मिली। पुनः उन्होंने जाम्बवान् के पास ही मणि होगी यह समझकर जाम्बवान्

प्रसन्न कर पूर्व वृत्तान्त अवगत कराया। उन्हें शरण में आया देख भगवान् हरि ने कहा—हे देवगणों! आप दानवों के साथ दुरभिसन्धि कर समुद्र मन्थन करो, उसमें से निकले अमृत से आप पुनः श्रीयुक्त तथा वैभव-सम्पन्न हो जाओगे।

भगवान् की आज्ञानुसार देवगणों ने दैत्यों को साथ लेकर समस्त त्रिभुवन की औषधियों को एकत्र कर समुद्र में छोड़ा। तब समुद्र का मन्थन प्रारम्भ किया। दैत्यगण देवताओं की इस चालाकी को समझ न पाये। मन्दराचल मथानी था, जिसे स्वयं भगवान हरि कूर्मरूप से धारण किये थे। वासुकि नाग मथने की रस्सी बने, जिनके फणों की तरफ दैत्यगण तथा पूँछ की तरफ देवगण थे।

इस प्रकार बड़े वेग से क्षीर-समुद्र के मथे जाने पर सर्वप्रथम सुरपूजिता कामधेनु प्रकट हुई, तत्पश्चात् वारुणी देवी, फिर अप्सराएँ तथा चन्द्रमा प्रकट हुए, जिसे भगवान् शङ्कर ने ग्रहण किया। फिर विष निकला, जिसे नागों ने ग्रहण किया। तदनन्तर अमृत का कमण्डलु लिये धन्वन्तरि और फिर हाथों में कमल-पुष्प धारण किए श्रीलक्ष्मीजी प्रकट हुईं, उन्हें देखकर देवगण-दैत्यों अप्सराओं आदि सभी ने विविध प्रकार से उनका पूजन किया। दिव्य आभा से युक्त श्री लक्ष्मी जी भगवान् हरि के वक्षःस्थल में विराजमान हुईं और पतिरूप में उनका वरण किया। ऐसा देखकर दानव लोग अत्यन्त कुपित हो उठे उन्होंने धन्वन्तरि के हाथ में अवस्थित अमृत से पूर्ण कलश को लेकर भागने का प्रयास करना ही चाहा था कि श्री भगवान् हरि ने मोहिनीरूप धारण कर उन्हें मोहित कर वह कलश देवताओं को समर्पित किया, देवगणों ने उसका पान कर डाला। क्रुद्ध हुए दैत्यों ने देवताओं पर अपने तीखे अस्त्रों से प्रहार प्रारंभ कर दिया; किन्तु श्री हरि की कृपा से शक्तिसम्पन्न देवता, दैत्यों को मार भगाकर पुनः इन्द्रादिक के साथ श्रीसम्पन्न होकर स्वर्ग का शासन करने लगे[1]।

१. वि० पु० 1/9/1-115।

३६. स्यमन्तकमणि-आख्यान

प्राचीन काल में सत्राजित् नामक एक प्रतापी राजा था। भगवान् सूर्य की कृपा से उन्हें 'स्यमन्तक' नाम का एक उत्तम मणिरत्न प्राप्त हुआ। उस मणिरत्न को अपने गले में लटकाये सत्राजित् द्वारकावासी लोगों के लिए महदाश्चर्य का विषय बना। उस मणि के प्रभाव से सर्वत्र ज्वलन्त प्रकाश ही दिखाई देता था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में रोग, अनावृष्टि, अग्नि, चौरादि का भय नहीं रहा। श्रीकृष्ण ने सोचा कि यह मणिरत्न प्रजा के स्वामी राजा उग्रसेन के योग्य है। श्रीकृष्ण ने सत्राजित् से कहा कि यह मणि उग्रसेन को दे दो। किन्तु सत्राजित् को इसमें अपना अपमान लगा और उन्होंने मणि नहीं दी; किन्तु चोरी के भय से सर्वदा उसको छिपाये रखा तथा बाद में अपने छोटे भाई प्रसेन को वह मणि दे दी। किन्तु प्रसेन को मणि-धारण करने की समुचित विधि ज्ञात न थी। अतः वह अशुद्धावस्था में ही मणि को गले में बाँधकर मृगया के लिए जंगल की तरफ निकल पड़ा। संयोगवशात् एक सिंह ने उसका वध कर दिया। कौतूहल से सिंह उस मणि को लेकर अपनी गुफा की ओर जाने लगा। किन्तु उसी समय ऋक्षराज जाम्बवान् ने सिंह को मारकर वह मणि प्राप्त कर ली और अपने पुत्र सुकुमार को खेलने के लिए दे दिया।

इधर प्रसेन जब वापस नहीं लौटा तो यादवों ने सोचा कि निश्चित ही कृष्ण ने उसे मारकर मणि ले ली है। इस लोकापवाद की असत्यता प्रकट करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण यादवों की विशाल सेना लेकर जङ्गल की तरफ निकल पड़े और वहाँ उन्हें घोड़े सहित प्रसेन सिंह द्वारा मारा गया दिखाई दिया। सिंह के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए वे मणि की खोज में निकले। थोड़ी ही दूर पर उन्हें ऋक्षराज जाम्बवान् द्वारा मारा गया सिंह भी दिखाई दिया, किन्तु मणि वहाँ भी न मिली। पुनः उन्होंने जाम्बवान् के पास ही मणि होगी यह समझकर जाम्बवान्

के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए वे एक गुफा के द्वार पर पहुँचे। अपने साथियों से कहा कि मणि निश्चित ही इस गुफा के अन्दर ऋक्षराज के पास होगी। आप सब लोग मेरे आने की प्रतीक्षा कीजिये। यह कहकर श्रीकृष्ण गुफा के अन्दर घुस गये। वहाँ पर श्रीकृष्ण का जाम्बवान् के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया और यह युद्ध इक्कीस दिनों तक चलता रहा।

अन्त में पराजित होकर जाम्बवान् ने प्रणाम कर कहा—हे प्रभो! आप निश्चित ही नारायण हरि हैं, अन्य किसी में ऐसा सामर्थ्य नहीं है, जो मुझे पराजित कर सके। उनकी स्तुति कर ऋक्षराज अपनी सुन्दर कन्या जाम्बवती तथा मणि श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया।

श्रीकृष्ण जाम्बवती तथा स्यमन्तक मणि को लेकर द्वारका आये और द्वारकावासियों को सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत कराकर वह मणि पुनः सत्राजित् को दे दी। सत्राजित् ने लज्जित होकर अपनी अन्यतमा कन्या सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण के साथ कर दिया। सत्राजित् द्वारा सत्यभामा को श्रीकृष्ण को दे दिये जाने से अक्रूर, कृतवर्मा और शतधन्वा आदि यादवगण सत्राजित् के वैरी हो गये, क्योंकि इनके साथ पहले ही सत्यभामा का वरण हो चुका था। अतः उन्होंने छल द्वारा मणि को सत्राजित् से छीनने की सोची। तब एक रात शतधन्वा ने सत्राजित् को सोया हुआ देखकर, उसको मारकर मणि ले ली। पिता का वध हो जाने से क्रोधित होकर सत्यभामा ने सारा वृत्तान्त श्रीकृष्णचन्द्र से कहा। तब भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा को आश्वस्त कर बलदेव जी को साथ लेकर शतधन्वा के पास पहुँचे। मणि पास में रहने के ही कारण मैं मारा जाऊँगा यह समझकर शतधन्वा ने वह मणि अक्रूर को दे दी। भागते हुए शतधन्वा को भगवान् ने चक्र से काट गिराया। किन्तु बहुत ढूँढ़ने पर भी जब मणि उन्हें प्राप्त न हुई तो उन्होंने बलदेव से इस बात को बताया किंतु बलदेव ने समझा कि श्रीकृष्ण मुझसे छल कर रहे हैं और मुझे यह मणि

नहीं देना चाहते हैं, अतः उन्हें बुरा-भला कहते हुए वे विदेह नगर के राजा जनक के पास आकर रहने लगे।

जब श्रीकृष्णजी को यह ज्ञात हुआ कि मणि अक्रूर जी के पास है, तब उन्होंने अक्रूर से मणि की याचना की, ताकि बलभद्र उन्हें चोर न समझें। अक्रूर ने भगवान् श्रीकृष्णजी को प्रणाम कर उनके दर्शनों से कृतज्ञ होकर वह देदीप्यमान मणि श्रीकृष्ण के सामने रख दी; किन्तु श्रीकृष्ण ने अक्रूर जी को ही उसके लिए योग्य पात्र समझकर पुनः वह मणि उन्हें सौंप दी। उस मणि को अपने गले में पहनकर अक्रूरजी सूर्य के समान देदीप्यमान होकर विचरण करने लगे और श्रीकृष्ण का मिथ्या कलङ्क दोष समाप्त हो गया[1]।

२७. साम्ब का आख्यान

एक बार जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने दुर्योधन द्वारा आयोजित स्वयंवर मण्डप से उसकी सुन्दर कन्या का हरण कर लिया। उसके इस दुःसाहसपूर्ण कृत्य को देखकर कर्ण, दुर्योधन आदि कुरुवंशीय राजाओं ने उसे युद्ध में पराजित कर बन्दी बना लिया। यह समाचार पाकर श्रीकृष्ण आदि यदुवंशियों ने युद्ध के लिए तैयारी प्रारम्भ कर दी, किन्तु बलभद्र जी सारी सेना को रोककर उन्मत्त होते हुए अकेले ही हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर कौरवों ने उनका विधिवत् सम्मान किया। तदनन्तर बलराम जी ने कहा—अरे दुर्योधन! राजा उग्रसेन की आज्ञा है कि तुम शीघ्र ही राजा साम्ब को छोड़कर अपनी कन्या के साथ उसे विदा करो।'

बलभद्र जी के इन वचनों को सुनकर कौरव क्षुब्ध हो उठे और कहने लगे—हे बलभद्र! तुम यह क्या कह रहे हो! तुच्छ यदुवंशी श्रेष्ठ कुरुवंशियों को आज्ञा दें, यह कैसे हो सकता है? अतः हम इस आज्ञा को अस्वीकार करते हुए कृष्ण के पुत्र साम्ब को नहीं छोड़ेंगे। आप लोगों की जो इच्छा हो सो करें।

1. वि० पु० 4/13/8-162।

हलायुध बलराम जी ने उनके तिरस्कार से क्रोधित होकर पृथ्वी में बड़े वेग से लात मारी। उस पादप्रहार से पृथ्वी फटने लगी। तब क्रोधित होकर बलराम जी कहने लगे--आज मैं अकेले ही पृथ्वी को कौरव-हीन कर दूँगा। आज कर्ण, दुर्योधन, द्रोण, भीष्म, भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर तथा अन्यान्य महारथियों को मारकर नववधू के साथ साम्ब को लेकर ही द्वारकापुरी में जाकर उग्रसेन आदि अपने बन्धु-बान्धवों को देखूँगा अथवा इस सम्पूर्ण हस्तिनापुर नगर को ही गङ्गाजी में फेंक दूँगा। इस प्रकार कहते हुए बलभद्र जी ने अपने हल की नोंक से हस्तिनापुर को खींचना प्रारम्भ कर दिया। तब नगर को डगमगाता देखकर सभी कौरव हाथ जोड़कर बलभद्र से क्षमा-याचना कर साम्ब को नववधू सहित बलरामजी को अर्पित कर दिया। तब प्रसन्न होते हुए बलराम द्वारकापुरी आये और एक विशाल महोत्सव में साम्ब का विवाह सम्पन्न किया[1]।

३८. सौभरि-आख्यान

इक्ष्वाकुवंश में मान्धाता नामक एक चक्रवर्ती परम प्रतापी राजा हुआ। उसके राज्य में सौभरि नामक एक संयमी ऋषि था। एक बार ऋषि सौभरि ने जल के अन्दर बारह वर्ष की कठिन तपस्या प्रारम्भ की। उस जल में सम्मद नामक एक मत्स्यराज अपने कुटुम्ब तथा बन्धु-वान्धवों के साथ गृहस्थ सुख का आनन्द लिया करता था। उसी आनन्द की अभिलाषा करता हुआ ऋषि सौभरि जल-समाधि तोड़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए बाहर निकल आया और घूमता हुआ राजा मान्धाता के पास आकर कहने लगा—हे राजन्! मैं कन्या-परिग्रह का अभिलाषी हूँ, अतः अपनी कन्याओं में से किसी एक को मुझे समर्पित कीजिए। राजा उनके असमय में इस प्रकार के वचनों को सुनकर तथा जराजीर्ण देह

1. वि० पु० 5/35/4-38।

को देखकर शाप के डर से अस्वीकार करने में असमर्थ मन ही मन चिन्ता से व्यथित हो उठा और भयभीत होकर कहने लगा—हमारी कुलरीति है कि कन्या जिस वर को पसन्द कर ले वह उसी को दे दी जाती है। ऋषि सौभरि राजा के मन की बात जानकर शर्त्त को स्वीकार कर लिया। तब सौभरि ने योगबल से अपना रूप सकल गन्धर्व-सिद्धादिकों से भी मनोहर बना लिया। सौभरि के उस मोहक छवि को देखकर मान्धाता की पचासों कन्याएँ मोहित होकर उस ऋषि को वर रूप में स्वीकार कर सभी एक दूसरे से 'मैं ही वरण करुँगी' इस प्रकार आपस में झगड़ने लगीं।

राजा ने इस आश्चर्यचकित वृत्तान्त को जानकर अत्यन्त व्याकुल चित्त से अपना वचन पूरा कर सभी कन्याओं का विवाह सौभरि के साथ कर दिया। महर्षि सौभरि उन कन्याओं को अपने आश्रम ले गया और वहाँ विश्वकर्मा से सारी भोग-सामग्री एकत्र करवा ली और योगबल से अपना पचासरूप बनाकर सभी कन्याओं के साथ यथेच्छ रमण करने लगा। राज्यकन्याएँ भी मनोभिलाषाओं को पूर्ण जानकर सभी सासांरिक सुखों का भोग करने लगीं।

कालक्रम से सौभरि मुनि के एक सौ पचास पुत्र उत्पन्न हुए। धीरे-धीरे ऋषि का अपने पुत्र-पौत्रों, परिवार एवं सांसारिक माया-जाल से मोह होने लगा। उनके मनोरथों में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। निवृत्तिपरक ऋषि प्रपञ्च में पड़कर प्रवृत्तिपरक हो गया।

एकबार इसी विषय में चिन्तन करता हुआ ऋषि सोचने लगा—अब मैंने समझ लिया है कि मृत्युपर्यन्त मनोरथों का अन्त तो होना नहीं है और जिसके चित्त में तृष्णा की आसक्ति हो जाती है, वह कभी परमार्थ चिन्तन में लग ही नहीं सकता। अहो ! मेरी समाधि जलवासी मत्स्यराज के सहवास से अकस्मात् नष्ट हो गयी और उसी संग के कारण ही मैंने स्त्री-धन आदि का परिग्रह किया। यह ममतारूप विवाह सम्बन्ध क्लेश

का हेतु है। निःसंगता ही यतियों को मुक्तिदायिनी है। सम्पूर्ण गुण-दोष संगति से उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार ऋषि को विरागभाव उत्पन्न हो उठा और पुनः सारा प्रपञ्च छोड़कर स्त्रियों सहित वन में चला गया और वहाँ वानप्रस्थ धर्मों का पालन करता हुआ अन्त में मनोवृत्ति के द्वन्द्वरहित हो जाने पर भगवान् में आसक्त होकर परमात्मपरायण अच्युतपद को प्राप्त हुआ[1]।

———

1. वि० पु० 66-133/4/2।